प्रस्तावना

प्रस्तुत सूत्र ग्रंथ जैन साहित्य का आद्य सूत्र ग्रंथ तो है ही, संस्कृत जैन साहित्य का भी यह आद्य ग्रंथ है। उस समय तक जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही पाया जाता था तथा उसी में नए साहित्य का सृजन होता था। इस ग्रंथ के रचयिता ने संस्कृत भाषा में रचना करने का ओंकार किया और समस्त जैन सिद्धांत को सूत्रों में निबद्ध करके गागर में सागर को भरने की कहावत को चरितार्थ कर दिखाया। यह संकलन इतना सुसंबद्ध और प्रामाणिक साबित हुआ कि भगवान महावीर की द्वादशांग वाणी की तरह ही यह जैन दर्शन का आधार स्तम्भ बन गया। न्याय दर्शन में न्याय सूत्रों को, वैशेषिक दर्शन में वैशेषिक सूत्रों को, मीमांसा दर्शन में जैमिनी सूत्रों को, वेदांत दर्शन में वादरायण सूत्रों को और योग दर्शन में योग सूत्रों को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान जैन दर्शन में इस सूत्र ग्रंथ को प्राप्त है।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में इसकी एक सी मान्यता और आदर है। दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों ने इस पर महत्वपूर्ण टीका ग्रंथ रचे हैं। इसके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र को आधार बनाकर अनेक दार्शनिकों ने प्रमाण शास्त्र का विवेचन किया है। दिगंबर जैनों में तो इसके पाठ मात्र से एक उपवास का फल बतलाया है। यथा-

दशाध्याये परिच्छिने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवे॥

अर्थात्- दस अध्याय प्रमाण तत्त्वार्थ को पाठ करने पर उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा मुनि श्रेष्ठों ने कहा है।

इस ग्रंथ का प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' है, जिसके द्वारा इसमें मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है। यही इसका प्रधान विषय है। इसी से इसको मोक्ष शास्त्र भी कहते हैं। दूसरा

सूत्र है 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। इसमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाकर आगे दसों अध्यायों में सात तत्त्वों का ही विवेचन क्रमवार किया गया है। अर्थात् प्रथम चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का, छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बंध तत्त्व का, नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। इस पर से इस ग्रंथ का वास्तविक नाम तत्त्वार्थ है। यही इसका मूल नाम है क्योंकि इस ग्रंथ की सबसे महत्वशाली तीन टीकाओं में से पहली टीका सर्वार्थ सिद्धि को तत्त्वार्थ वृत्ति, दूसरी टीका को तत्त्वार्थवार्तिक और तीसरी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम उनके रचयिताओं ने ही दिया है। तथा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानंद ने तो अपनी आप्तपरीक्षा के अंत में 'तत्त्वार्थ शास्त्र' नाम से ही इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। चूँकि यह ग्रंथ सूत्र रूप में है इसलिए 'तत्त्वार्थ सूत्र' नाम से ही इसकी ख्याति है। श्वेतांबर सम्प्रदाय में भी इसी नाम से इसकी ख्याति है। इस सम्प्रदाय में जो सूत्रपाठ प्रचलित है उस पर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ कहा जाता है। उस भाष्य के आरंभिक श्लोकों में तथा प्रशस्ति में भी उसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' दिया हुआ है। इससे इसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भी कहते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी टीका लिखना टीकाकार के लिए एक महत् सौभाग्य की वस्तु है। इसी से जहाँ इस पर अनेक महत्वपूर्ण और साधारण संस्कृत टीकाएँ रची गई हैं, हिन्दी टीकाएँ भी अनेक हैं। फिर भी मेरा यह विचार हुआ कि इस ग्रंथ पर हिन्दी में एक ऐसी टीका लिखी जानी चाहिए जिसमें सब संस्कृत टीकाओं की आवश्यक तथा उपयोगी बातें आ जाएँ। किंतु जब मैंने लिखना प्रारंभ किया तो मेरा विचार बदल गया और तब मैंने यह स्थिर किया कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो उपयोगी बातें हों वही दी जाएँ। तथा टीका इस ढंग से लिखी जाए कि वह तत्त्वार्थ

सूत्र पढ़ने वाले और सर्वार्थ सिद्धि पढ़ने वाले छात्रों के साथ ही साथ स्वाध्यायप्रेमियों के भी काम आ सके। अतः मैंने सूत्र का अर्थ तो तत्त्वार्थ सूत्र पढ़ने वालों की दृष्टि से रखकर लिखा है और विशेषार्थ तथा शंका-समाधान प्रायः सर्वार्थ सिद्धि पढ़ने वालों की दृष्टि से लिखे हैं। इसी से विशेषार्थ से बाहर जो शंका समाधान हैं, उन्हें अलग से दे दिया है। सर्वार्थसिद्धि की दार्शनिक चर्चाओं को छोड़कर उसकी प्रायः सभी सैद्धांतिक चर्चाएँ विशेषार्थों में आ गई हैं। दार्शनिक चर्चाओं को मैंने इसलिए छोड़ दिया है कि प्रथम तो उनका तत्त्वार्थ सूत्र के साथ ऐसा संबंध नहीं है कि उनके बिना उसके मंतव्यों को समझने में कठिनाई हो। दूसरे, वे चर्चाएँ स्वाध्यायप्रेमियों की दृष्टि से उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी गहन हैं। कहीं-कहीं एक-दो बात तत्त्वार्थ राजवार्तिक से भी ले ली गई है। इस तरह यह मेरी टीका अब तक की हिन्दी टीकाओं से कुछ भिन्न ही प्रकार की है। मैंने प्रत्येक अर्थ और विशेषार्थ को नपे-तुले शब्दों में लिखा है, ज्यादा विस्तार से नहीं किया है। फिर भी अपनी दृष्टि से इस ढंग से लिखा है कि पढ़ने वाला सरलता से उसे समझ जाए। वैसे तो तत्त्वार्थ सूत्र का सभी विषय गहन है और बिना किसी के समझाए उसे समझना कठिन है।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन पारिभाषिक शब्दों का भंडार है। अतः उसकी टीका में उन शब्दों की परिभाषाएँ आना स्वाभाविक है। जैन परिभाषाओं से अनजान व्यक्ति को कभी-कभी जैन ग्रंथ पढ़ते हुए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ जाता है। अतः मैंने इस संस्करण के अंत में तत्त्वार्थ सूत्र के पारिभाषिक शब्दों का एक कोश भी अकारादि क्रम से दे दिया है। उससे पाठक प्रत्येक शब्द की परिभाषा सरलता से जान सकेंगे।

यदि मेरे इस प्रयत्न से छात्रों और स्वाध्यायप्रेमियों को कुछ भी लाभ पहुँच सका तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

*कैलाशचंद्र शास्त्री

तत्त्वार्थ सूत्र का विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण २१

मोक्ष का मार्ग २१

सम्यग्दर्शन आदि के क्रम के विषय में शंका-समाधान २२

सम्यग्दर्शन का लक्षण २२

तत्त्वार्थ शब्द का अर्थ, सम्यग्दर्शन के दो भेद २२

सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है? २२

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन में अन्तर २३

तत्त्वों के नाम २३

तत्त्व सात ही क्यों? २३

निक्षेपों का कथन २३

नाम और स्थापना में भेद २४

निक्षेपों का प्रयोजन २४

तत्त्वों को जानने का उपाय २४

प्रमाण और नय में भेद २५

तत्त्वों को जानने के अन्य उपाय २५

सम्यग्दर्शन के विषय में छह अनुयोग २६

सम्यग्ज्ञान के भेद २६

ज्ञान ही प्रमाण है २७

सन्निकर्ष या इन्द्रिय प्रमाण नहीं है २७

प्रमाण के भेद २८

परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष का लक्षण २८

मतिज्ञान के नामान्तर २८

स्मृति का लक्षण २८
प्रत्यभिमान के भेद और लक्षण २९
चिन्ता या तर्क का लक्षण २९
अभिनिबोध या अनुमान का लक्षण २९
मतिज्ञान के उत्पत्ति के निमित्त २९
इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति २९
मन अनिन्द्रिय क्यों ३०
मतिज्ञान के भेद ३०
अवग्रह आदि भेदों का लक्षण ३०
अवग्रह आदि ज्ञानों के भेद ३०
बहुविध आदि का लक्षण ३०
बहु बहुविध आदि किसके विशेषण हैं? ३१
अर्थस्य सूत्र की आवश्यकता ३१
व्यंजनावग्रह ३१
व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता ३२
मति ज्ञान के ३३६ भेद ३२
श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद ३२
अवधि ज्ञान के भेद और उसके स्वामी ३३
मन:पर्यय के भेद और उनमें अन्तर ३४
अवधि ज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान में अन्तर ३५
मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान का विषय ३५
अमूर्तिक पदार्थ मतिज्ञान के विषय कैसे हैं? ३५
अवधि ज्ञान का विषय ३६
मन:पर्यय ज्ञान का विषय ३६
मन:पर्यय के विषय में शंका-समाधान ३६
केवल ज्ञान का विषय ३७
एक साथ एक आत्मा में कितने ज्ञान रह सकते हैं ३७

तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं ३७
ज्ञानों के विपरीत होने का हेतु ३८
नय के भेद ३८
नैगम नय का स्वरूप ३८
संग्रह नय का स्वरूप ३९
व्यवहार नय का स्वरूप ३९
ऋजुसूत्र नय का स्वरूप ३९
शब्द नय का स्वरूप ३९
समभिरूढ़ नय का स्वरूप ४०
एवंभूत नय का स्वरूप ४०
द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय ४०

द्वितीय अध्याय

जीव के पाँच भाव ४१
पाँचों भावों का स्वरूप ४१
पाँच भावों के भेद ४१
औपशमिक भाव के भेद ४१
औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र, प्रथमोपशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ ४२
क्षायिक भाव के भेद ४२
उनका कार्य ४३
सिद्धों में क्षायिक भाव ४३
क्षायोपशमिक भाव के भेद ४३
औदयिक भाव के भेद ४३-४४
उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में लेश्या के सत्त्व को लेकर शंका-समाधान ४४
अन्य औदयिक भावों का इन्हीं में अन्तर्भाव ४५

पारिणामिक भाव के भेद	४५
जीव का लक्षण उपयोग	४६
उपयोग के भेद	४६
ज्ञान और दर्शन की चर्चा	४६
मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं माना	४६-४७
जीव के भेद	४७
पाँच परिवर्तनों का निर्देश	४७
संसारी जीव के भेद	४७-४८
जो चले वे त्रस, जो ठहरे रहें वे स्थावर ऐसा मानने में दोष	४८
स्थावर के भेद	४८
स्थावर के चार प्राण	४८
त्रस के भेद	४८
त्रस जीवों के प्राण	४८-४९
इन्द्रियों की संख्या और उनके भेद	४९
द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप	४९
भावेन्द्रिय का स्वरूप	४९
इन्द्रियों के नाम	५०
इन्द्रियों का लक्षण	५०
इन्द्रियों के विषय	५०
मन का विषय	५०
इन्द्रियों के स्वामी	५१
संज्ञी का स्वरूप	५१
'संज्ञिनः समनस्काः' इस सूत्र में दोनों पद क्यों रखे?	५१
नया शरीर धारण करने के लिए जीव की गति	५१-५२
गति का नियम	५२
मुक्त जीव की गति	५२
संसारी जीव की गति का कालमान	५३

ऋजुगति का कालमान ५३
अनाहार का कालमान ५३
जन्म के भेद ५४
योनि के भेद ५४
गर्भ जनम के स्वामी ५५
उपपाद जन्म के स्वामी ५५
सम्मूर्छन जन्म के स्वामी ५५
पाँच शरीरों का वर्णन ५५
शरीरों में स्थूल और सूक्ष्मपन ५६
तैजस और कार्मण के विषय में विशेष कथन ५७
एक साथ हो सकने वाले शरीरों की संख्या ५८
निरुपभोग और सोपभोग की चर्चा किस जन्म से कौन शरीर होता है ५८
तप के प्रभाव से होने वाले शरीर ५९
आहारक शरीर का स्वरूप ५९
लिंग का विभाग ६०
पूरी आयु भोगकर मरने वाले जीव ६०
    अकाल मरण क्या है ६०-६१
    भुज्यमान आयु बढ़ नहीं सकती ६०-६१

तृतीय अध्याय

अधो लोक का वर्णन
    सात भूमियाँ और तीन वातवलय ६२
    पहली भूमि की मोटाई और उसके तीन भाग ६२
    शेष भूमियों की मोटाई वगैरह ६२
    भूमियों में बिलों की संख्या ६३

प्रत्येक भूमि में पटलों की संख्या ६३
प्रत्येक पटल में बिलों का विभाग, बिलों का विस्तार ६३
नारकियों के लेश्या तथा शरीर की उँचाई ६३-६४
नरक में दुःख ६४
नारकियों की आयु ६४-६५

मध्यलोक का वर्णन

द्वीप और समुद्र ६५
द्वीप और समुद्रों का विस्तार ६५
जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्र और पर्वतों का वर्णन ६५-६६
सुमेरु पर्वत का वर्णन ६७
पर्वतों पर स्थित तालाबों का वर्णन ६८
उनसे निकलने वाली नदियों का वर्णन ६९-७०
भरत क्षेत्र का विस्तार ७०
अन्य क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार ७१
कालकृत हानि-वृद्धि ७१
छः कालों का वर्णन ७१-७२
हैमवत आदि क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति ७२
विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति ७३
धातकी खंड का वर्णन ७४
पुष्करार्ध का वर्णन ७४-७५
मनुष्यों के भेद ७५
कर्मभूमि और भोगभूमि ७६
मनुष्यों की आयु ७६
पल्योपम काल का वर्णन ७६-७७
तिर्यंचों की आयु ७७

चतुर्थ अध्याय

देवों के चार निकाय ७८

चार निकायों के भेद ७८

चार निकायों के अवान्तर भेद ७८

दो निकायों में इन्द्रों की संख्या ७९

देवों में काम सेवन का प्रकार ७९

भवनवासी देवों के भेद ८०

व्यन्तर देवों के भेद ८०

ज्योतिष्क देवों के भेद ८०-७१

ज्योतिष्क देवों का गमन और उसके द्वारा काल का विभाग ८१

एक चंद्र का परिवार ८१

स्थिर ज्योतिष्क देव ८२

'बहिरवस्थिताः' सूत्र की आवश्यकता ८२

वैमानिक देवों का वर्णन ८२

वैमानिक देवों के भेद ८२-८३

स्वर्ग आदि के नाम तथा उनकी अवस्थिति का वर्णन ८३

बारह इंद्र ८३

वैमानिक देवों में अधिकता और हीनता ८४

शरीर की ऊँचाई तथा उत्पाद ८४-८५

वैमानिकों में लेश्या का नियम ८५

लौकान्तिक देवों का वर्णन ८५-८६

अनुत्तर विमानवासी देवों की विशेषता ८६

एक भवावतारी जीव ८६

तिर्यंचों की पहचान ८७

तिर्यंचों का अलग लोक क्यों नहीं बतलाया ८७

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु ८७

वैमानिकों की उत्कृष्ट आयु ८७-८८
बारहवें स्वर्ग तक ही कुछ अधिक आयु क्यों? ८८
वैमानिकों की जघन्य आयु ८८
नारकियों की जघन्य आयु ८८-८९
भवनवासियों की जघन्य आयु
व्यन्तर देवों की आयु ८९
ज्योतिष्क देवों की आयु ८९
लौकान्तिक देवों की आयु ८९

पंचम अध्याय

अजीव के भेद ९०
द्रव्यों का कथन ९०
द्रव्यों के बारे में विशेष कथन ९०-९१
प्रत्येक द्रव्य की संख्या ९१
निष्क्रिय द्रव्यों में भी उत्पाद व्यय ९१-९२
प्रदेशों की संख्या ९२-९३
असंख्यात प्रदेशी लोक में अनंतानंत प्रदेशी पुद्गल कैसे रह सकता है ९३
लोकाकाश में द्रव्यों की स्थिति
आकाश में अन्य द्रव्यों की स्थिति को लेकर शंका-समाधान ९३
कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है? ९४
जीव के अवस्थान को लेकर शंका-समाधान ९५-९६
प्रत्येक द्रव्य का कार्य ९६
धर्म और अधर्म द्रव्य के कार्य को लेकर शंका-समाधान ९६-९७
आकाश द्रव्य के कार्य को लेकर शंका-समाधान ९७
शब्द पौद्गलिक है ९८
पुद्गल का लक्षण १००

पुद्गल की पर्याय १००-१०१
पुद्गल के भेद १०२
स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण १०२
अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष बनने में हेतु १०३
द्रव्य का लक्षण १०३
सत् का लक्षण १०३-१०४
नित्यत्व का स्वरूप १०४
अनेकान्त की व्यवस्था १०५
पौद्गलिक बंध के हेतु १०५
बंध के सामान्य विधान में अपवाद १०६-१०७
प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण १०८
द्रव्य के दोनों लक्षणों का समन्वय १०८
काल भी द्रव्य है १०९
गुण का लक्षण ११०
गुण और पर्याय में अंतर ११०
परिणाम का स्वरूप ११०

षष्ठम अध्याय

योग का स्वरूप १११
आस्रव का स्वरूप १११
योग के भेद और उनका कार्य ११२
स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद ११२-११३
साम्परायिक आस्रव के भेद ११३
पच्चीस क्रियाओं का स्वरूप ११४
परिणाम भेद से आस्रव में विशेषता ११४
अधिकरण के भेद ११५

जीवाधिकरण के भेद ११५
अजीवाधिकरण के भेद ११५
ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण ११६
असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण ११६
दुःख आदि कारणों को लेकर शंका-समाधान ११७
साता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण ११७
दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण ११८
चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण ११८
नरकायु के आस्रव के कारण ११८
तिर्यंचायु के आस्रव के कारण ११८
मनुष्यायु के आस्रव के कारण ११९
देवायु के आस्रव के कारण ११९
अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण १२०
शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण १२०
तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण १२०
नीच गोत्र के आस्रव के कारण १२१
उच्च गोत्र के आस्रव के कारण १२१
अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण १२२

सप्तम अध्याय

व्रत का स्वरूप
अहिंसा व्रत की प्रधानता १२३
व्रतों को आस्रव का कारण क्यों कहा १२३
व्रतों के भेद १२३
अहिंसा व्रत की भावनाएँ १२४
सत्य व्रत की भावनाएँ १२४

अचौर्य व्रत की भावनाएँ	१२४
ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ	१२५
परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ	१२५
हिंसा आदि की विरोधी भावनाएँ	१२५
कुछ अन्य भावनाएँ	१२६
हिंसा का लक्षण	१२७
हिंसा के भेद और उनका खुलासा	१२७
असत्य का लक्षण	१२७
चोरी का लक्षण	१२८
अब्रह्म का लक्षण	१२८
परिग्रह का लक्षण	१२८
व्रतों का स्वरूप	१२८
व्रती के भेद	१२९
आगारी व्रती का स्वरूप	१२९
पाँच अणुव्रत	१२९
सात शील	१३०
सल्लेखना का वर्णन	१३१
सल्लेखना और आत्मवध में अन्तर	१३२
सम्यग्दर्शन के अतिचार	१३२
अहिंसाणुव्रत के अतिचार	१३२
सत्याणुव्रत के अतिचार	१३३
अचौर्याणुव्रत के अतिचार	१३३
ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार	१३४
परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार	१३४
दिग्विरति व्रत के अतिचार	१३४
देश व्रत के अतिचार	१३४
अनर्थ दंड विरति के अतिचार	१३५

सामायिक व्रत के अतिचार १३५

प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार १३५

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार १३५

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार १३६

सल्लेखना व्रत के अतिचार १३६

दान का लक्षण १३६

दान के फल में विशेषता १३७

अष्टम अध्याय

बंध के कारणों का कथन १३८

बंध का स्वरूप १३९

बंध के भेद १४०

प्रकृति बंध के आठ भेद १४०

आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या १४०

ज्ञानावरण के भेद १४१

अभव्य जीव के दो ज्ञानावरणों की सत्ता को लेकर शंका-समाधान १४१

दर्शनावरण की प्रकृतियाँ १४१

वेदनीय की प्रकृतियाँ १४२

मोहनीय की प्रकृतियाँ १४२

आयु कर्म की प्रकृतियाँ १४३

नाम कर्म की प्रकृतियाँ १४३-१४६

गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ १४७

अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ १४७

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन १४७

कर्मों की जघन्य स्थिति का वर्णन १४८

अनुभव बंध का वर्णन १४८

अनुभव के दो प्रकार १४९
फल देने के बाद कर्म की निर्जरा १४९
निर्जरा के दो प्रकार १४९
प्रदेश बंध का कथन १५०
कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ १५०
कर्मों की पाप प्रकृतियाँ १५१

नवम अध्याय

संवर का लक्षण १५२
संवर के कारण १५२
गुप्ति का लक्षण १५३
समिति के भेद १५३
गुप्ति और समिति में अंतर १५४
दस धर्म १५४
सत्य धर्म और भाषा समितियों में अंतर १५४
बारह अनुप्रेक्षाएँ १५५
परीषहों को सहने का उद्देश्य १५६
परीषहों का वर्णन १५६
गुणस्थानों में परीषहों का विभाग १५७
किस कर्म के उदय से कौन परीषह होती है? १५७-१५८
एक साथ एक जीव में कितनी परीषह हो सकती है? १५९
चारित्र के भेद और उनका स्वरूप १५९
बाह्य तप के भेद और उनका स्वरूप १६०
परीषह और कायक्लेश में अंतर १६०
अभ्यन्तर तप के भेद १६१
अभ्यन्तर तप के उपभेदों की संख्या १६१

प्रायश्चित्त के भेद	१६१
विनय के भेद	१६२
वैयावृत्य के भेद	१६२
स्वाध्याय के भेद	१६३
व्युत्सर्ग के भेद	१६३
ध्यान का वर्णन	१६४
ध्यान के भेद	१६४
आर्तध्यान के भेद और उनके लक्षण	१६५
आर्तध्यान के स्वामी	१६५
रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामी	१६५
धर्मध्यान का स्वरूप	१६६
शुक्ल ध्यान के स्वामी	१६६
शुक्ल ध्यान के भेद	१६७
शुक्ल ध्यान का आलम्बन	१६७
आदि के दो शुक्ल ध्यानों का विशेष कथन	१६७
वितर्क का लक्षण	१६७
वीचार का लक्षण	१६७-१६८
पृथक्त्व वितर्क वीचार	१६८
एकत्व वितर्क वीचार	१६८
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति	१६९
समुच्छिन्न क्रिया निवर्त्ति	१६९
सम्यग्दृष्टियों के कर्म निर्जरा की हीनाधिकता	१६९
निर्ग्रन्थ के भेद	१७०
निर्ग्रन्थों में विशेषता का विचार	१७१-१७२

दशम अध्याय

केवल ज्ञान की उत्पत्ति के कारण १७३

मोक्ष का लक्षण और उसके कारण १७३

कर्म के अभाव का क्रम १७३

कुछ भावों के अभाव का कथन १७४

मुक्तावस्था में शेष रहने वाले क्षायिक भाव १७५

मुक्तावस्था की कुछ बातों को लेकर शंका-समाधान १७५

मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन १७५

ऊर्ध्वगमन में हेतु और दृष्टान्त १७५

लोक के अंत तक ही जाने का कारण १७६

मुक्त जीवों में भेद व्यवहार का विचार १७६

क्षेत्र १७६

काल १७६

गति १७६

लिंग १७७

तीर्थ १७७

चारित्र १७७

प्रत्येक बुद्ध १७७

बोधित १७७

ज्ञान १७७

अवगाहना १७७

अन्तर १७७

संख्या १७७

अल्प बहुत्व १७८-१७९

तत्त्वार्थ सूत्र

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थ : जो मोक्ष मार्ग का प्रवर्त्तक है, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला है और समस्त तत्त्वों को जानता है, उसे मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ : यहाँ तीन विशेषणों के साथ आप्त की स्तुति की गई है। प्रथम विशेषण से आप्त को परम हितोपदेशी बतलाकर जगत के प्राणियों के प्रति उनका परम उपकार दर्शाया है। दूसरे विशेषण से आप्त को निर्दोष और वीतराग बतलाया है, क्योंकि जगत के समस्त जीवों को अपने स्वरूप से भ्रष्ट करने वाले मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करके ही आप्त होता है। तीसरे विशेषण से अपने-अपने गुण-पर्याय सहित समस्त पदार्थों को एक साथ जानने के कारण आप्त को सर्वज्ञ बतलाया है। इस तरह परम हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ ही आप्त है। उसी के उपदेश से शास्त्र की उत्पत्ति होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होता है तथा उसी के द्वारा सर्वज्ञता और वीतरागता की प्राप्ति होती है। अतः ग्रन्थ के प्रारंभ में ऐसे आप्त को नमस्कार करना उचित ही है।

अब ग्रन्थकार मोक्ष का उपाय बतलाते हैं-

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का सुमेल ही मोक्ष का मार्ग है।

विशेषार्थ : इस सूत्र का पहला शब्द 'सम्यक्' का अर्थ है प्रशंसा। यह शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। किन्तु ये तीनों अलग अलग मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, बल्कि तीनों का मेल ही मोक्ष का मार्ग है। इसी से सूत्र में एकवाची 'मार्गः' शब्द रखा है।

पदार्थों के सच्चे स्वरूप के श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं, पदार्थों के सच्चे स्वरूप के जानने को 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं और जिन कार्यों के करने से कर्मबंध होता है उन कार्यों के न करने को 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।

शङ्का : सूत्र में ज्ञान को पहले रखना चाहिए; क्योंकि ज्ञानपूर्वक ही पदार्थों का श्रद्धान होता है तथा दर्शन से ज्ञान में थोड़े अक्षर हैं। इसलिए भी अल्प अक्षर वाले ज्ञान को दर्शन से पहले कहना चाहिए।

समाधान : जैसे मेघ पटल के हटते ही सूर्य का प्रताप और प्रकाश दोनों एक साथ प्रकट होते हैं वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से जिस समय आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय आत्मा के कुमति और कुश्रुत ज्ञान मिटकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप होते हैं। अत: सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में काल भेद नहीं है। दोनों एक साथ होते हैं। तथा यद्यपि ज्ञान अल्प अक्षर वाला है किन्तु अल्प अक्षर वाले से जो पूज्य होता है वही प्रधान होता है। दर्शन और ज्ञान में दर्शन ही पूज्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अत: पूज्य होने से सम्यग्दर्शन को पहले कहा है उसके बाद ज्ञान को रखा है तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। इसी से चारित्र को अन्त में रखा है। ॥१॥

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं :

तत्त्वार्थ-श्रद्धानं-सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अर्थ : जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है उसका उसी स्वभाव रूप से निश्चय होना 'तत्त्वार्थ' है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ : 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दो शब्दों के मेल से 'तत्त्वार्थ' शब्द बना है। तत्त्व शब्द भाव सामान्य का वाचक है। अत: जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्त्व है। और जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं। अत: तत्त्व रूप अर्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। आशय यह है कि तत्त्व का मतलब है भाव, और अर्थ का मतलब है भाववान्। अत: न केवल भाव का और न केवल भाववान का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, किन्तु भाव विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं सराग सम्यक्दर्शन और वीतराग सम्यक्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सराग सम्यग्दर्शन के सूचक हैं। रागादिक की तीव्रता के न होने को 'प्रशम' कहते हैं। संसार, शरीर और भोगों से भयभीत होने का नाम संवेग है। सब प्राणियों को अपना मित्र समझना अनुकम्पा है। आगम में जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा है उसी रूप उन्हें मानना आस्तिक्य है। सराग सम्यग्दृष्टि में ये चारों बातें पाई जाती हैं तथा आत्मा की विशुद्धि का नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है। ॥२॥

आगे बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है :

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

अर्थ : वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है- स्वभाव से और पर के उपदेश से। जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज

सम्यग्दर्शन कहते हैं।।

विशेषार्थ : दोनों ही सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का अंतरंग कारण तो एक ही है वह है दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम। उसके होते हुए जो सम्यग्दर्शन बिना दूसरे के उपदेश के स्वयं ही प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहते हैं। और परोपदेश पूर्वक जो होता है उसे अधिगमज कहते हैं। सारांश यह है कि जैसे पुरानी किंवदंती के अनुसार कुरुक्षेत्र में बिना ही प्रयत्न के सोना पड़ा हुआ मिल जाता है वैसे ही किसी दूसरे पुरुष के उपदेश के बिना, स्वयं ही जीवादि तत्त्वों को जानकर जो श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। और जैसे सोना निकालने की विधि को जानने वाले मनुष्य के प्रयत्न से खान से निकाला हुआ स्वर्ण पाषाण सोना रूप होता है वैसे ही दूसरे पुरुष के उपदेश की सहायता से जीवादि पदार्थों को जानकर जो श्रद्धान होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। ॥३॥

अब तत्वों को बतलाते हैं-

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अर्थ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। जिसका लक्षण चेतना है वह जीव है। जिनमे चेतना नहीं पाई जाती ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव हैं। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। **आत्मा और कर्म के प्रदेशों के परस्पर में मिलने को बंध कहते हैं।** आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं। कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। और समस्त कर्मों का क्षय होने को मोक्ष कहते हैं।

शंका : तत्त्व सात ही क्यों हैं?

समाधान : यह मोक्ष शास्त्र है इसका प्रधान विषय मोक्ष है अत: मोक्ष को कहा। मोक्ष जीव को होता है। अत: जीव का ग्रहण किया तथा संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है और संसार अजीव के होने पर होता है, क्योंकि जीव और अजीव के आपस में बद्ध होने का नाम ही संसार है। अत: अजीव का ग्रहण किया। संसार के प्रधान कारण आस्रव और बंध है। अत: आस्रव और बंध का ग्रहण किया है। तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं इसलिए संवर और निर्जरा का ग्रहण किया।।४॥

अब सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि के व्यवहार में आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिए सूत्रकार निक्षेपों का कथन कहते हैं -

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ॥५॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के

द्वारा निक्षेप होता है। जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, लोक व्यवहार चलाने के लिए अपनी इच्छा से उसको उस नाम से कहना 'नाम निक्षेप' है। जैसे माता पिता ने अपने पुत्र का नाम इंद्र रख दिया किन्तु उसमें इंद्र का कोई गुण नहीं पाया जाता। अत: वह पुत्र नाम मात्र से इंद्र है, वास्तव में इंद्र नहीं है। लकड़ी, पत्थर, मिट्टी के चित्रों में तथा शतरंज के मोहरों में हाथी, घोड़े वगैरह की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। स्थापना दो प्रकार की होती है-तदाकार और अतदाकार। पाषाण या धातु की बनी हुई तदाकार प्रतिबिम्ब जिनेंद्र भगवान की या इंद्र की स्थापना करना 'तदाकार-स्थापना' है। और शतरंज के मोहरों में जो कि हाथी या घोड़े के आकार के नहीं हैं, हाथी-घोड़े की स्थापना करना अर्थात् उनको हाथी घोड़ा मानना अतदाकार स्थापना है।

शंका : नाम और स्थापना में क्या भेद हैं?

समाधान : नाम और स्थापना में बहुत भेद है। नाम तो केवल श्रेष्ठ व्यवहार चलाने के लिए ही रखा जाता है। जैसे किसी का नाम इंद्र या जिनेंद्र रख देने से इंद्र या जिनेंद्र की तरह उसका आदर सन्मान नहीं किया जाता। किन्तु धातु पाषाण के प्रतिबिम्ब में स्थापित जिनेंद्र की अथवा इंद्र की पूजा साक्षात् जिनेंद्र या इंद्र की तरह ही की जाती है।

जो पदार्थ आगामी परिणाम की योग्यता रखता हो उसे 'द्रव्य निक्षेप' कहते हैं। जैसे इंद्र की प्रतिमा बनाने के लिए जो काष्ठ लाया गया हो उसमें इंद्र की प्रतिमा रूप परिणत होने की योग्यता है अत: उसे इंद्र कहना द्रव्य निक्षेप है। और वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे, स्वर्ग के स्वामी साक्षात् इंद्र को इंद्र कहना भाव निक्षेप है। ऐसे ये चार निक्षेप हैं।

विशेषार्थ : इन निक्षेपों का यह प्रयोजन है कि लोक में प्रत्येक वस्तु का चार रूप से व्यवहार होता पाया जाता है। जैसे इंद्र का व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में होता देखा जाता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का व्यवहार भी चार रूप से हो सकता है। अत: कोई नाम को ही भाव न समझ ले, या स्थापना को ही भाव न समझ बैठे, इसलिए व्यभिचार को दूर करके यथार्थ वस्तु को समझाने के लिए ही यह निक्षेप की विधि बतलाई है। इनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हैं और चौथा भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है॥५॥

अब तत्त्वों को जानने का उपाय बतलाते हैं-

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

अर्थ : प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होता है। संपूर्ण वस्तु

को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और वस्तु के एक देश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

विशेषार्थ : प्रमाण के दो प्रकार हैं-स्वार्थ और परार्थ। जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जानता है उसे स्वार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से स्वार्थ प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान सकता है दूसरों को नहीं बतला सकता। और जिसके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराया जाता है उसे परार्थ प्रमाण कहते हैं। इसी से परार्थ प्रमाण वचनरूप होता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं जानकर वचन के द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है। आगे ज्ञान के पाँच भेद बतलाए हैं-मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान। इनमें से श्रुतज्ञान के सिवा शेष चार ज्ञान तो स्वार्थ प्रमाण ही हैं, क्योंकि वे मात्र ज्ञानरूप ही हैं, परंतु श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी है अत: श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। ज्ञानरूप श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण है, और वचनरूप श्रुतज्ञान परार्थ प्रमाण है। जैसे,तत्त्वार्थ सूत्र के ज्ञाता को तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित विषयों का जो ज्ञान है वह ज्ञानात्मक श्रुत होने से स्वार्थ प्रमाण है और जब वह ज्ञाता अपने वचनों के द्वारा दूसरों को उन विषयों का ज्ञान कराता है वह वचनात्मक श्रुत परार्थ प्रमाण है। इस श्रुतज्ञान के ही भेद नय हैं॥६॥

अब प्रमाण और नय के द्वारा जाने गए जीव आदि तत्त्वों को जानने के अन्य उपाय बतलाते हैं-

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः॥७॥

अर्थ : निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान-इन छ: अनुयोगों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस वस्तु को हम जानना चाहते हैं उसका स्वरूप कहना निर्देश है। स्वामित्व से मतलब उस वस्तु के मालिक से है। वस्तु के उत्पन्न होने के कारणों को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। काल की मर्यादा का नाम स्थिति है। विधान से मतलब उसके भेदों से है। इस तरह इन छ: बातों के द्वारा उस वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ : वस्तु को हम जानते तो प्रमाण और नय से ही है, किन्तु उसके जानने में ऊपर बतलाई गई छ: बातें उपयोगी होती हैं, उनसे उस वस्तु की पूरी पूरी जानकारी होने में सहायता मिलती है। जैसे, हम यदि सम्यग्दर्शन को जानना चाहते हैं तो उसके विषय में छ: अनुयोग इस प्रकार घटाना चाहिए-तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव होता है। सम्यग्दर्शन के साधन दो हैं, अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग साधन अथवा कारण तो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम,

क्षय अथवा क्षयोपशम है और जिन धर्म का सुनना, जिन बिम्ब का दर्शन, जातिस्मरण वगैरह बहिरंग साधन है। अधिकरण भी दो हैं-अन्तरंग और बहिरंग। सम्यग्दर्शन का अन्तरंग अधिकरण या आधार तो आत्मा ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन उसी को होता है। और बहिरंग आधार त्रसनाड़ी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव त्रसनाड़ी में ही रहते हैं, उससे बाहर नहीं रहते। सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है और अधिक से अधिक सादि अनन्त है, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर कभी नहीं छूटता, और मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद भी हैं निसर्गज और अधिगमज। तथा तीन भेद भी हैं-औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

इसी तरह ज्ञान, चारित्र और जीव आदि पदार्थों में निर्देश आदि लगा लेना चाहिए।।७।।

जीव आदि को जानने के और भी उपाय बतलाते हैं-

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ।।८।।

अर्थ : सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी जीव आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। सत् का अर्थ अस्तित्व या मौजूदगी है। भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं। वर्तमान निवास को क्षेत्र कहते हैं। तीनों कालों में विचरने के क्षेत्र को स्पर्शन कहते हैं। काल का मतलब सभी जानते हैं। विरह काल को अन्तर कहते हैं।

अर्थात एक दशा से दूसरी दशा को प्राप्त करके फिर उसी पहली दशा में आ जाने पर दोनों के बीच में जितना काल रहता है वह विरह काल कहलाता है। इसी को अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदि को भाव कहते हैं। एक-दूसरे की अपेक्षा तुलना करके एक को कमती दूसरे को अधिक बतलाना अल्पबहुत्व है। इन आठों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि का ज्ञान होता है।।८।।

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्।।९।।

अर्थ : मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। पाँच इंद्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों से संबंध रखने वाले किसी दूसरे पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे मतिज्ञान के द्वारा घट को जानकर अपनी बुद्धि से यह जानना कि यह घट पानी भरने के काम का है, अथवा उस एक घट के समान या असमान जो अन्य बहुत से घट हैं, उनको जान लेना श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक। कर्ण इंद्रिय के सिवा बाकी की चार इंद्रियों के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात जो विशेष ज्ञान होता है वह

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे स्वयं घट को जानकर यह जानना कि यह घट अमुक काम में आ सकता है। और कर्ण इंद्रिय के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, 'घट' इस शब्द को सुनकर कर्ण इंद्रिय के द्वारा जो मतिज्ञान हुआ उसने केवल शब्द मात्र को ही ग्रहण किया। उसके बाद उस 'घट' शब्द के वाच्य घड़े को देखकर यह जानना कि यह घट है और यह पानी भरने के काम का है, यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मनुष्य लोक में वर्तमान जीवों के मन में स्थित जो रूपी पदार्थ हैं, जिनका उन जीवों ने सरल रूप से या जटिल रूप से विचार किया है या विचार कर रहे हैं अथवा भविष्य में विचार करेंगे, उनको स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को मन:पर्यय कहते हैं और सब द्रव्यों की सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।।९।।

ऊपर प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होना बतलाया है। किन्तु कोई कोई मतावलंबी इंद्रिय और पदार्थ का जो सन्निकर्ष संबंध होता है उसी को प्रमाण मानते हैं, कोई इंद्रिय को ही प्रमाण मानते हैं। अत: ऊपर कहे गए ज्ञानों को ही प्रमाण बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं-

तत्प्रमाणे ।।१०।।

अर्थ : ऊपर कहे मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

विशेषार्थ : सूत्रकार का कहना है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इंद्रिय प्रमाण नहीं है, क्योंकि इंद्रिय और पदार्थ का जो संबंध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म पदार्थ जैसे परमाणु, दूरवर्ती पदार्थ जैसे सुमेरु और अन्तरित पदार्थ जैसे राम रावण आदि के साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष नही हो सकता, क्योंकि इंद्रिय का संबंध तो सामने वर्तमान स्थिर स्थूल पदार्थ के साथ ही हो सकता है। अत: सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से इन पदार्थों का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। इसके सिवा सभी इंद्रियाँ पदार्थ को छूकर नहीं जानती हैं। मन और चक्षु जिसको जानते हैं उससे दूर रहकर ही उसे जानते हैं। अत: ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इंद्रिय प्रमाण नहीं है।

आगे प्रमाण के दो भेद बतलाए हैं-प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हीं में दूसरों के द्वारा माने गए प्रमाण के सब भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी से 'प्रमाणे' यह द्विवचन का प्रयोग सूत्र में किया है।।१०।।

अब प्रमाण के उन दो भेदों को बतलाकर सूत्रकार पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों का उनमें अन्तर्भाव करते हैं-

आद्ये परोक्षम्।।११।।

अर्थ : पाँच ज्ञानों में से आदि के दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

विशेषार्थ : यहाँ 'आद्य' शब्द का द्विवचन में प्रयोग होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ग्रहण किया है। दोनों ज्ञान 'पर' अर्थात इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदि की सहायता से होते हैं इसलिए ये परोक्ष हैं, क्योंकि जो ज्ञान पर की अपेक्षा से होता है उसे परोक्ष कहते हैं।।११।।

अब मति और श्रुत के सिवा बाकी के तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष बतलाते हैं-

प्रत्यक्षमन्यत्।।१२।।

अर्थ : मति और श्रुत के सिवा शेष अवधि, मन:पर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विशेषार्थ : अक्ष नाम आत्मा का है। जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इंद्रिय, प्रकाश, उपदेश आदि की सहायता नहीं लेता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं-विकल प्रत्यक्ष यानी एक देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधि और मन: पर्यय विकल प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।।१२।।

आगे परोक्ष प्रमाण के संबंध में विशेष कथन करते हैं-

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।।१३।।

अर्थ : मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं क्योंकि ये पाँचों ही मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ : इंद्रिय और मन की सहायता से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है उसे मति कहते हैं। न्याय शास्त्र में इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि लोक व्यवहार में इंद्रिय से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। परंतु वास्तव में तो पराधीन होने से यह ज्ञान परोक्ष ही है। पहले जानी हुई वस्तु को कालान्तर में स्मरण करना स्मृति है। जैसे पहले देखे हुए देवदत्त का स्मरण करना 'वह देवदत्त' यह स्मृति है। संज्ञा का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण होना और फिर पहले देखी हुई वस्तु का और वर्तमान वस्तु का जोड़ रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है। न्याय शास्त्र में प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद बतलाए हैं, जिनमें चार मुख्य हैं- एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। किसी पुरुष को देखकर 'यह वही पुरुष है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना, एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। वन में गवय नाम के पशु को देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरी गौ के समान है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

भैंस को देखकर यह भैस मेरी गौ से विलक्षण है, ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है। निकट की वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु के स्मरणपूर्वक ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है, या ऊँची है, या नीची है, इत्यादि ज्ञान को तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। चिन्ता का दूसरा नाम तर्क है। 'जहाँ अमुक चिन्ह होता है वहाँ उस चिन्ह वाला भी होता है। ऐसे ज्ञान को चिन्ता या तर्क कहते हैं। न्याय शास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को तथा साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव को व्याप्ति कहते हैं। जैसे, 'अग्नि के न होने पर धुआँ नहीं होता और धुआँ होने पर अग्नि अवश्य होती है यह व्याप्ति है और इसको जानने वाले ज्ञान को तर्क प्रमाण कहते हैं। जिसको सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं। साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान है। जैसे कहीं, धुआँ उठता देखकर यह जान लेना कि वहाँ आग लगी है क्योंकि धुआँ उठ रहा है, यह अभिनिबोध है। ये सब ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं॥१३॥

आगे बतलाते हैं कि मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है-

तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्॥१४॥

अर्थ : वह मतिज्ञान पाँच इंद्रियों की और अनिन्द्रिय यानी मन की सहायता से होता है।

विशेषार्थ : इंद्र अर्थात आत्मा। आत्मा के चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। आशय यह है कि जानने की शक्ति तो आत्मा में स्वभाव से ही है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म का उदय रहते हुए वह बिना बाह्य सहायता के स्वयं नहीं जान सकता। अत: जिन अपने चिह्नों के द्वारा वह पदार्थों को जानता है। उन्हें इंद्रिय कहते हैं। अथवा आत्मा तो सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता। अत: जिन चिह्नों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है, उन्हें इंद्रिय कहते हैं, क्योंकि इंद्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा के अस्तित्व का पता लगता है। अथवा इंद्र यानी नामकर्म। उसके द्वारा जो रची जाए उसे इंद्रिय कहते हैं।

शंका : जो इंद्रिय नहीं उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। तब मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा? क्योंकि वह भी तो इंद्र अर्थात आत्मा का चिन्ह है, उसके द्वारा भी आत्मा जानता है?

समाधान : यहाँ अनिन्द्रिय का मतलब 'इंद्रिय नहीं' ऐसा मत लेना, किन्तु 'किंचित इंद्रिय' लेना। अर्थात् मन किंचित् इंद्रिय हैं, पूरी तरह से इंद्रिय नहीं है। क्योंकि इंद्रियों का तो स्थान भी निश्चित है और विषय भी निश्चित है। जैसे चक्षु शरीर के अमुक भाग में ही पाई जाती है तथा वह रूप को ही जानती है। किन्तु मन का न तो कोई

निश्चित स्थान ही है और न कोई निश्चित विषय ही है, क्योंकि जैन सिद्धांत में ऐसा बतलाया है कि आत्मा के जिस प्रदेश में ज्ञान उत्पन्न होता है उसी स्थान के अंगुल के असंख्यातवें भाग आत्मप्रदेश उसी समय मनरूप हो जाते हैं तथा मन की प्रवृत्ति भी सर्वत्र देखी जाती है इसलिए उसे अनिन्द्रिय कहा है। मन को अन्त:करण भी कहते हैं, क्योंकि एक तो वह आँख वगैरह की तरह बाहर में दिखाई नहीं देता। दूसरे, मन का प्रधान काम गुण-दोष का विचार तथा स्मरण आदि है। उसमें वह इंद्रियों की सहायता नहीं लेता। अत: उसे अन्त:करण भी कहते हैं॥१४॥

अब मतिज्ञान के भेद कहते हैं-

अवग्रहेहावाय-धारणाः ॥१५॥

अर्थ : अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा, ये चार मतिज्ञान के भेद हैं। इंद्रिय और पदार्थ का संबंध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर ही जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे चक्षु से सफेद रूप को जानना अवग्रह है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा का होना ईहा है। जैसे, यह सफेद रूप वाली वस्तु क्या है? यह तो बगुलों की पंक्ति सी ही प्रतीत होती है, यह ईहा है। विशेष चिन्हों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना आवाय है। जैसे पंखों के हिलने से तथा ऊपर नीचे होने से यह निर्णय कर लेना यह बगुलों की पंक्ति ही है, यह आवाय है। अवाय से जानी हुई वस्तु को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है॥१५॥

आगे इन अवग्रह आदि ज्ञानों के और भेद बतलाने के लिए उनके विषय बतलाते हैं-

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्॥१६॥

अर्थ : बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त, अध्रुव इन बारहों के अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं। अथवा अवग्रह आदि से इन बारहों का ज्ञान होता है। बहुत वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुज्ञान कहते हैं। बहुत तरह की वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुविधज्ञान कहते हैं। जैसे सेना या वन को एक समूह रूप में जानना बहुज्ञान है। और हाथी घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदों को जानना बहुविध ज्ञान है। वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनि:सृत ज्ञान है। जैसे जल में डूबे हुए हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना। शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है। जैसे, तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना। बिना कहे

अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है। बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुव ज्ञान है। अल्प का अथवा एक का ज्ञान होना अल्पज्ञान है। एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होना एकविध ज्ञान है। धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्र ज्ञान है। सामने विद्यमान पूरी वस्तु को जानना निःसृत ज्ञान है। कहने पर जानना उक्त ज्ञान है। चंचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार की ईहा, बारह प्रकार का आवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। ये सब मिलकर ज्ञान के ४८ भेद होते हैं तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पाँचों इंद्रियों और मन के द्वारा होता है। अतः ४८ को छह से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद होते हैं॥१६॥

आगे बतलाते हैं कि ये बहु, बहुविध आदि किसके विशेषण हैं-

अर्थस्य॥१७॥

अर्थ : ये बहु, बहुविध आदि पदार्थ के विशेषण हैं। अर्थात् बहु यानी बहुत से पदार्थ, बहुविध यानी बहुत तरह के पदार्थ। इस तरह बारहों भेद पदार्थ के विशेषण हैं।

शंका : इसके कहने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहु बहुविध तो पदार्थ ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता, उसी के अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होते हैं?

समाधान : आप की शंका ठीक है, किन्तु (अन्य मतावलंबियों के मत का निराकरण करने के लिए अर्थस्य सूत्र कहना पड़ा है) कुछ मतावलंबी ऐसा मानते हैं कि इंद्रियों का संबंध पदार्थ के साथ नहीं होता, किन्तु पदार्थ में रहने वाले रूप, रस आदि गुणों के साथ ही होता है। अतः इंद्रियाँ गुणों को ही ग्रहण करती हैं, पदार्थ को नहीं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वे लोग गुणों को अमूर्तिक मानते हैं और इंद्रियों के साथ अमूर्तिक का सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

शंका : तो फिर लोक में ऐसा क्यों कहा जाता है मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूँघी?

समाधान : इसका कारण यह है कि इंद्रियों के साथ तो पदार्थ का ही संबंध होता है किन्तु चूँकि रूप आदि गुण पदार्थ में ही रहते हैं, अतः ऐसा कह दिया जाता है। वास्तव में तो इंद्रियाँ पदार्थ को ही जानती हैं॥१७॥

आगे बतलाते हैं कि सभी पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अन्तर है -

व्यञ्जनस्यावग्रहः॥१८॥

अर्थ : व्यंजन अर्थात अस्पष्ट शब्द वगैरह का केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि

नहीं होते।

विशेषार्थ : स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं, और अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं। जैसे, श्रोत्र इंद्रिय में एक हल्की सी आवाज का मामूली सा भान होकर रह गया। उसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था? ऐसी अवस्था में केवल व्यंजनावग्रह ही होकर रह जाता है। किन्तु यदि धीरे-धीरे वह आवाज स्पष्ट हो जाती है तो व्यंजनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। अत: अस्पष्ट पदार्थ का केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थ के चारों ज्ञान होते हैं॥१८॥

आगे बतलाते हैं कि जैसे अर्थावग्रह, ईहा वगैरह ज्ञान सभी इंद्रियों से होते हैं वैसे व्यंजनावग्रह सभी इंद्रियों से नहीं होता-

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥१९॥

अर्थ : चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता, क्योंकि चक्षु और मन पदार्थ को दूर से ही जानते हैं, उससे भिड़कर नहीं जानते। जैसे चक्षु आँख में लगे अंजन को नहीं देख सकती, किन्तु दूरवर्ती पदार्थ को देख सकती है। इसी तरह मन भी जिन पदार्थों का विचार करता है वे उससे दूर ही होते हैं। इसी से जैन सिद्धांत में चक्षु और मन को अप्राप्यकारी कहा है। शेष चारों इंद्रियाँ अपने विषय को उससे भिड़कर ही जानती है। अत: व्यंजनावग्रह चार ही इंद्रियों से होता है। इस तरह बहु आदि बारह विषयों की अपेक्षा व्यंजनावग्रह के ४८ भेद होते हैं तथा पहले गिनाए हुए २८८ भेदों में इन ४८ भेदों को मिला देने से मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।।१९॥

इस तरह मतिज्ञान का स्वरूप कहा। आगे श्रुतज्ञान का स्वरूप कहते हैं-

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदं॥२०॥

अर्थ : श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं। उनमें से एक भेद के अनेक भेद हैं और दूसरे भेद के बारह भेद हैं।

विशेषार्थ : पहले मतिज्ञान होता है। उसके बाद श्रुतज्ञान होता है। बिना मतिज्ञान हुए श्रुतज्ञान नहीं होता। यह बात दूसरी है कि श्रुतज्ञान होने के बाद फिर श्रुतज्ञान हो, किन्तु पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के तो अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञातृ धर्म कथा, उपसकाध्ययन, अन्त:कृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद। भगवान तीर्थंकर ने केवल

ज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश दिया। उनके साक्षात् शिष्य गणधर ने उस उपदेश को अपनी स्मृति में रखकर बारह अंगों में संकलित कर दिया। यह अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान कहा जाता है। किन्तु ये अंगग्रंथ महान और गंभीर होते हैं। अतः आचार्यों ने अल्पबुद्धि शिष्यों पर दया करके उनके आधार पर जो ग्रंथ रचे, वे अंगबाह्य कहलाते हैं। ये सब अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं। श्रुतज्ञान में उसी की मुख्यता है।।२०।।

परोक्ष प्रमाण का कथन समाप्त हुआ। अब प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए सबसे प्रथम अवधि ज्ञान का कथन करते हैं। अवधि ज्ञान के दो भेद हैं। भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त।

उनमें से प्रथम भवप्रत्यय अवधि ज्ञान के स्वामी बतलाते हैं-

भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्।।२१।।

अर्थ : भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के होता है।

विशेषार्थ : अवधि ज्ञान अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से होता है। और क्षयोपशम व्रत, नियम वगैरह के आचरण से होता है। किन्तु देवों और नारकियों में व्रत, नियम वगैरह नहीं होते। अतः उनमें देव और नारकी का भव पाना ही क्षयोपशम के होने के कारण होता है। इसी से उनमें होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय जिसके होने में भव ही कारण है, कहा जाता है। अर्थात् जो देव और नारकियों में जन्म लेता है उसके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो ही जाता है। अतः वहाँ क्षयोपशम के होने में भव ही मुख्य कारण है। इतना विशेष है कि सम्यग्दृष्टियों के अवधि ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियों के कुअवधि ज्ञान होता है।।२१।। (भव प्रत्यय अवधि ज्ञान तीर्थंकरों के भी होता है)

आगे क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है, यह बतलाते हैं-

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।।२२।।

अर्थ : क्षयोपशम निमित्त नामक अवधिज्ञान छः प्रकार का होता है और वह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

विशेषार्थ : अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जिसमें निमित्त है उसे क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान कहते हैं। यद्यपि सभी अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होते हैं फिर भी इस अवधि ज्ञान का नाम क्षयोपशम निमित्त इसलिए रखा गया कि इसके होने में क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, भव नहीं। इसीसे इसे गुणप्रत्यय भी कहते हैं। इसके छह भेद हैं-अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित। जो

अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी। जिस जीव के जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान प्रकट हुआ वह जीव यदि दूसरे क्षेत्र में जाए तो उसके साथ जाए और छूटे नहीं, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान परलोक में भी अपने स्वामी जीव के साथ जाता है वह भवानुगामी है। जो अवधि अन्य क्षेत्र में भी साथ जाता है और अन्य भव में भी साथ जाता है वह उभयानुगामी है। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता वह अननुगामी है। इसके भी तीन भेद हैं जो पूर्वोक्त तीन भेदों से उल्टे हैं। विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान बढ़ता ही जाता है उसे वर्धमान कहते हैं। संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से जो अवधिज्ञान घटता ही जाता है उसे हीयमान कहते हैं। जो अवधिज्ञान जिस मर्यादा को लेकर उत्पन्न हुआ हो उसी मर्यादा में रहे, न घटे और न बढ़े। उसे अवस्थित कहते हैं और जो घटे-बढ़े उसे अनवस्थित कहते हैं॥२२॥

अब मनःपर्यय ज्ञान का कथन करते हैं-

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

अर्थ : मन:पर्यय ज्ञान के दो भेद हैं-ऋजुमति और विपुलमति। दूसरे के मन में सरल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसे ऋजुमति मन:पर्यय कहते हैं और दूसरे के मन में सरल अथवा जटिल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, उसे विपुलमति मन:पर्यय कहते हैं।

विशेषार्थ : देव, मनुष्य, तिर्यंच, सभी के मन में स्थित विचार को मन:पर्यय ज्ञान जानता है, किन्तु वह विचार रूपी पदार्थ अथवा संसारी जीव के विषय में होना चाहिए। अमूर्तिक द्रव्यों और मुक्तात्माओं के विषय में जो चिन्तन किया गया होगा, उसे मन:पर्यय नहीं जान सकता। तथा उन्हीं जीवों के मन की बात जान सकता है जो मनुष्य लोक की सीमा के अंदर हो। इतना विशेष है कि मनुष्य लोक तो गोलाकार है किन्तु मन:पर्यय ज्ञान का क्षेत्र गोलाकार न होकर पैंतालीस लाख योजन लंबा चौड़ा चौकोर है। उसके दो भेदों में से ऋजुमति तो केवल उसी वस्तु को जान सकता है जिसके बारे में स्पष्ट विचार किया गया हो अथवा मन वचन और कायकी चेष्टा के द्वारा जिसे स्पष्ट कर दिया गया हो। किन्तु विपुलमति मन:पर्यय चिन्तित, अचिन्तित और अर्ध चिन्तित को भी जान लेता है॥२३॥

अब मनः पर्यय के दोनों भेदों में विशेषता बतलाते हैं-

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अर्थ : ऋजुमति और विपुलमति में विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा से विशेषता है। मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में उज्जवलता होती है वह विशुद्धि है। और संयम परिणाम की वृद्धि होने से गिरावट का न हो ना अप्रतिपात है। ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है किन्तु विपुलमति वाले का चारित्र वर्धमान ही होता है, अतः केवलज्ञान उत्पन्न होने तक बराबर बना रहता है॥२४॥

आगे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में विशेषता बतलाते हैं-

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थ : अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र स्वामी और विषय की अपेक्षा से अंतर है।

विशेषार्थ : इसका खुलासा इस प्रकार है- अवधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपीद्रव्य को मन:पर्यय ज्ञान जानता है। अत: अवधि ज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान विशुद्ध है। अवधि ज्ञान की उत्पत्ति का क्षेत्र समस्त त्रसनाड़ी है, किन्तु मन:पर्यय ज्ञान मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञान के विषय का क्षेत्र समस्त लोक है किन्तु मन:पर्यय ज्ञान के विषय का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन का घन रूप ही है। इतने क्षेत्र में स्थित अपने योग्य विषय को ही ये ज्ञान जानते हैं। तथा अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के होता है किन्तु मन:पर्यय ज्ञान कर्म भूमि के गर्भज मनुष्यों के ही होता है उनमें भी संयमियों के ही होता है। संयमियों में भी वर्धमान चारित्र वालों के ही होता है, हीयमान चारित्र वालों के नहीं होता। वर्धमान चारित्र वालों में भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से एक दो ऋद्धियों के धारी मुनियों के ही होता है और ऋद्धिधारियों में भी किसी के ही होता है, सभी के नहीं होता। विषय की अपेक्षा भेद आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे। इस तरह अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में विशुद्धि वगैरह की अपेक्षा भेद जानना चाहिए॥२५॥

अब क्रमानुसार तो केवलज्ञान का लक्षण कहना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान का स्वरूप आगे दसवें अध्याय में कहेंगे। अतः ज्ञानों का विषय बतलाते हुए प्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय बतलाते हैं-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु॥२६॥

अर्थ : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का नियम द्रव्यों की कुछ पर्यायों में है। अर्थात् ये दोनों ज्ञान द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानते हैं, सब पर्यायों को नहीं जानते।

विशेषार्थ : इस सूत्र में 'विषय' शब्द नहीं है अत: 'विशुद्धि क्षेत्र' आदि सूत्र से

'विषय' शब्द ले लेना चाहिए। तथा 'द्रव्येषु' शब्द बहुवचन का रूप है इसलिए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। इन द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं। उनमें से कुछ पर्यायों को ही मति और श्रुत ज्ञान जानते हैं।

शंका : धर्म, अधर्म आदि द्रव्य तो अमूर्तिक हैं। वे मतिज्ञान के विषय नहीं हो सकते। अत: सब द्रव्यों को मतिज्ञान जानता है ऐसा कहना ठीक नहीं है?

समाधान : यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि मन की सहायता से होने वाला मति ज्ञान अमूर्तिक द्रव्यों में भी प्रवृत्ति कर सकता है, और मनपूर्वक अवग्रह आदि ज्ञान होने पर पीछे श्रुतज्ञान भी अपने योग्य पर्यायों को जान लेता है। अत: कोई दोष नहीं है।।२६।।

अब अवधिज्ञान का विषय बतलाते हैं-

रूपिष्ववधेः ।।२७।।

अर्थ : अवधिज्ञान के विषय का नियम रूपी पदार्थों में है। यहाँ पूर्व सूत्र से 'असर्वपर्यायेषु' पद ले लेना चाहिए। तथा 'रूपी' शब्द से पुद्गल द्रव्य लेना चाहिए, क्योंकि एक पुद्गल द्रव्य ही वास्तव में रूपी है। अत: अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है। इतना विशेष है कि पुद्गल द्रव्य से संबद्ध जीव द्रव्य की भी कुछ पर्यायों को जानता है, क्योंकि संसारी जीव कर्मों से बँधा होने से मूर्तिक जैसा ही हो रहा है। किन्तु मुक्त जीव को तथा अन्य अमूर्तिक द्रव्यों को अवधिज्ञान नहीं जानता। वह तो अपने योग्य सूक्ष्म अथवा स्थूल पुद्गल द्रव्य की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को ही जानता है।।२७।।

आगे मनःपर्यय ज्ञान का विषय बतलाते हैं-

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।।२८।।

अर्थ : सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग को मन:पर्यय ज्ञान जानता है। सारांश यह कि अवधिज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

शंका : सर्वावधि ज्ञान का विषय तो परमाणु बतलाया है और उसके अनन्तवें भाग को मन:पर्यय जानता है ऐसा कहा है सो परमाणु के अनन्त भाग कैसे हो सकते हैं?

समाधान : एक परमाणु में स्पर्श, रूप, रस और गंध गुण के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति के अंश) पाए जाते हैं। अत: उनकी अपेक्षा से परमाणु का भी अनन्तवाँ भाग होना संभव है।।२८।।

अब केवल ज्ञान का विषय बतलाते हैं-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।।२९।।

अर्थ : केवल ज्ञान के विषय का नियम सब द्रव्यों की सब पर्यायों में है। आशय यह है कि एक-एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। सो सब द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को एक साथ एक समय में केवल ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है।।२९।।

इस प्रकार ज्ञानों का विषय कहा। अब यह बतलाते हैं कि एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान रह सकते हैं -

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।३०।।

अर्थ : एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक विभाग कर लेना चाहिए। अर्थात एक हो तो केवल ज्ञान होता है, दो हो तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान होते हैं या मति, श्रुत और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं। चार हो तो मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं। इससे अधिक नहीं होते; क्योंकि केवल ज्ञान क्षायिक है-समस्त ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से होता है। इसी से वह अकेला होता है, उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते।।३०।।

आगे बतलाते हैं कि आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं-

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।३१।।

अर्थ : विपर्यय का अर्थ विपरीत यानी उलटा होता है। यहाँ सम्यग्ज्ञान का अधिकार है। अत: विपर्यय से सम्यग्ज्ञान का उलटा मिथ्याज्ञान लेना चाहिए। अत: 'च' शब्द समुच्चयवाची है। अत: मति, श्रुत और अवधि ज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं ऐसा सूत्र का अर्थ जानना चाहिए।

शंका : ये तीनों ज्ञान मिथ्या क्यों होते हैं?

समाधान : ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं। अत: जैसे कड़वी तूम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, वैसे ही जिस आत्मा के मिथ्यादर्शन का उदय है उस आत्मा के ज्ञान मिथ्या होते हैं।।३१।।

इस पर शंकाकार का कहना है कि जैसे सम्यग्दृष्टि मतिज्ञान के द्वारा रूप रस वगैरह को जानता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुमति ज्ञान के द्वारा जानता है। जैसे सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर दूसरों को उपदेश देता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुश्रुत ज्ञान के द्वारा जानकर दूसरों को उपदेश देता है। तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुअवधि (विभंग ज्ञान) के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है। इस तरह जब मिथ्यादृष्टि के रूप आदि विषयों को ग्रहण

करने में कोई विपरीतता नहीं देखी जाती तब उसके ज्ञानों को क्यों मिथ्या कहा जाता है?

इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं-

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।।३२।।

अर्थ : सत् अर्थात विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान। अथवा सत् यानी अच्छा और असत् यानी बुरा। मिथ्या दृष्टि सत् और असत् के भेद को नहीं जानता और उन्मत्त पुरुष की तरह अपनी रुचि के अनुसार वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे मदिरा, पीकर उन्मत्त हुआ मनुष्य कभी माता को पत्नी कहता है और कभी पत्नी को माता कहता है। कभी कभी पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कहता है फिर भी वह ठीक समझकर ऐसा नहीं करता। इसी तरह मिथ्यादृष्टि भी घट पट आदि पदार्थों को घटपट आदि ही जानता है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं है। इसी से उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है।।३२।।

इस तरह प्रमाण का कथन करके अब नय के भेद बतलाते हैं-

नैगम-संग्रहव्यवहार-र्जुसूत्र-शब्द-
समभिरूढैवंभूता नयाः।।३३।।

अर्थ : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

विशेषार्थ : इन सात नयों का स्वरूप इस प्रकार है- एक द्रव्य अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों से जुदा नहीं है, बल्कि त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। अतः जो भूत और भविष्यत् पर्यायों में वर्तमान का संकल्प करता है या वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई उसे पूर्ण मानता है, उस ज्ञान को तथा वचन को नैगम नय कहते हैं। जैसे एक मनुष्य कुल्हाड़ा लेकर वन की ओर जाता है। उसे देखकर कोई पूछता है कि आप किसलिए वन जा रहे हैं? तो वह उत्तर देता है- मैं इंद्र लेने के लिए जा रहा हूँ। किंतु वास्तव में वह लकड़ी लेने जा रहा है परंतु उसका संकल्प उस लकड़ी से इंद्र की प्रतिमा बनाने का है। अतः वह अपने संकल्प में ही इंद्र का व्यवहार करता है। इसी तरह एक आदमी लकड़ी पानी वगैरह रख रहा है। उससे कोई पूछता है- आप क्या कर रहे हैं? तो वह उत्तर देता है- मैं भात पका रहा हूँ। किंतु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है। पर चूँकि उसका संकल्प भात पकाने का है अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई है उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है। यह नैगम नय है।।१।।

अपनी-अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का एक रूप से संग्रह करने वाले ज्ञान को और वचन को संग्रह नय कहते हैं। जैसे 'द्रव्य' कहने से सब द्रव्यों का ग्रहण होता है, 'जीव' कहने से सब जीवों का ग्रहण होता है। पुद्‌गल कहने से सब पुद्‌गलों का ग्रहण होता है॥२॥

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है। जैसे 'द्रव्य' कहने से काम नहीं चल सकता। अत: व्यवहार नय की आवश्यकता होती है। व्यवहार से द्रव्य के दो भेद हैं- जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव और अजीव कहने से भी काम नहीं चलता। अत: जीव के दो भेद हैं- संसारी और मुक्त। संसारी के भी देव मनुष्य तिर्यंच आदि भेद हैं। अजीव के पुद्‌गल, धर्म, अधर्म आदि पाँच भेद हैं। पुद्‌गल के दो भेद हैं- अणु और स्कन्ध। इस प्रकार व्यवहार नय तब तक भेद करता जाता है जब तक भेद हो सकते हैं॥३॥

भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। वस्तु हर समय परिणमन करती रहती है। इसलिए वास्तव में तो एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थ पर्याय ऋजुसूत्र नय का विषय है। किंतु व्यवहार में एक स्थूल पर्याय जब तक रहती है तब तक लोग उसे वर्तमान पर्याय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्याय अपनी आयु पर्यंत रहती है। ऐसी स्थूल पर्याय को ग्रहण करने वाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्र नय कहा जाता है॥४॥

लिंग, संख्या, साधन आदि के व्याभिचार को दूर करने वाले ज्ञान और वचन को शब्द नय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिंग वाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना लिंग व्याभिचार है। जैसे- तारका और स्वातिका, अवगम और विद्या का, वीणा और वाद्य का एक ही वाच्य मानना। विभिन्न वचनों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना वचन व्याभिचार है। जैसे आप : और जल का तथा दारा और स्त्री का एक ही वाच्य मानना। इसी तरह मध्यम पुरुष का कथन उत्तम पुरुष की क्रिया द्वारा करना पुरुष व्याभिचार है। 'होने वाला काम हो गया' ऐसा कहना काल व्याभिचार है क्योंकि 'हो गया तो भूतकाल को कहता है और होने वाला आगामी काल को कहता है।' इस तरह का व्याभिचार शब्द नय की दृष्टि में उचित नहीं है। जैसा शब्द कहता है वैसा ही अर्थ में भेद मानना इस नय का विषय है। अर्थात् यह नय शब्द में लिंग भेद, वचन भेद, कारक भेद, पुरुष भेद और काल भेद वगैरह के होने से उसके अर्थ में भेद का होना मानता है॥५॥

लिंग आदि का भेद न होने पर भी शब्द भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इंद्र, शक्र और पुरंदर ये तीनों शब्द स्वर्ग के स्वामी इंद्र के वाचक हैं और एक ही लिंग के हैं। किंतु ये तीनों शब्द उस इंद्र के भिन्न-भिन्न धर्मों को कहते हैं। ऐसा इस नय का मंतव्य है। वह आनंद करता है इसलिए इंद्र कहा जाता है, शक्तिशाली होने से शक्र और नगरों को उजाड़ने वाला होने से पुरंदर कहा जाता है। इस तरह जो नय शब्द भेद से अर्थ भेद मानता है वह समभिरूढ़ है।।६।।

जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ हो, उस क्रिया रूप परिणमे पदार्थ को ही ग्रहण करने वाला वचन और ज्ञान एवंभूत नय है। जैसे इंद्र शब्द का अर्थ आनंद करना है। अत: स्वर्ग का स्वामी जिस समय आनंदोपभोग करता हो उसी काल में उसे इंद्र कहना, जब पूजन करता हो तो इंद्र नहीं कहना, एवंभूत नय है।।७।।

इस तरह यह सात नयों का स्वरूप है। इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म होता जाता है।

संक्षेप में नय के दो भेद हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। विस्तार से तो नय के बहुत भेद हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाए जाते हैं। और एक-एक धर्म को एक-एक नय विषय करता है। किंतु यदि कोई एक नय को ही पकड़कर बैठ जाए और उसी को सत्य समझ ले तो वह दुर्नय कहलाएगा। आवश्यकतानुसार एक को मुख्य और शेष को गौण करते हुए सब नयों की सापेक्षता से ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है।।३।।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अब सम्यग्दर्शन के विषय रूप से कहे गए सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का वर्णन करते हैं-

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ : औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक व पारिणामिक ये जीव के पाँच भाव हैं। जैसे मैले पानी में निर्मली मिला देने से मैल नीचे बैठ जाता है और जल कुछ स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही कारण के मिलने पर प्रतिपक्षी कर्म की शक्ति के दब जाने से आत्मा में निर्मलता का होना औपशमिक भाव है। ऊपर वाले दृष्टांत में उस स्वच्छ जल को, जिसके नीचे मैल बैठ गया है, किसी साफ बर्तन में निकाल लेने पर उसके नीचे का मैल दूर हो जाता है और केवल निर्मल जल रह जाता है। वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म का बिल्कुल अभाव होने से आत्मा में जो निर्मलता होती है वह क्षायिक भाव है। जैसे, उसी पानी को दूसरे बर्तन में निकालते समय कुछ मैल यदि साथ में चला आए और आकर जल के नीचे बैठ जाए तो उस समय जल की जैसी स्थिति होती है वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और आगे उदय में आने वाले निषेकों का सत्ता में उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होते हुए जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। उसी का नाम मिश्र भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म का फल देना उदय है और उदय से जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। और जो भाव कर्म की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही होता है वह पारिणामिक भाव है। इस तरह ये जीव के पाँच भाव होते हैं॥१॥

अब इन भावों के भेद कहते हैं-

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्॥२॥

अर्थ : औपशमिक भाव के दो भेद हैं। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं। मिश्र भाव के अठारह भेद हैं। औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

अब औपशमिक भाव के दो भेद कहते हैं-

सम्यक्त्व-चारित्रे॥३॥

अर्थ : औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव के भेद

हैं। अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं तथा समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

विशेषार्थ : उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं- प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से छूटने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में पाँच लब्धियाँ होती हैं- क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि। इनमें से प्रारंभ की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों के हो जाती हैं किंतु करण लब्धि भव्य के ही होती है तथा जब सम्यक्त्व होना होता है तभी होती है। जब अशुभ कर्म प्रति समय अनंत गुनी कम कम शक्ति को लिए हुए उदय में आते हैं अर्थात् पहले समय में जितना फल दिया, दूसरे समय में उससे अनंत गुना कम, तीसरे समय में उससे अनंत गुना कम, इस तरह प्रति समय अनंत गुना घटता हुआ उदय जिस काल में होता है तब क्षयोपशम लब्धि होती है। क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से धर्मानुराग रूप शुभ परिणामों का होना विशुद्धि लब्धि है। आचार्य वगैरह के द्वारा उपदेश का लाभ होना देशना लब्धि है। किंतु जहाँ उपदेश देने वाला न हो, जैसे चौथे आदि नरकों में, वहाँ पूर्व भव में सुने हुए उपदेश की धारणा के बल पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन तीनों लब्धि वाला जीव प्रति समय अधिक अधिक विशुद्ध होता हुआ आयु कर्म के सिवा शेष कर्मों की स्थिति जब अंत: कोटा कोटि सागर प्रमाण बाँधता है और विशुद्ध परिणामों के कारण वह बँधी हुई स्थिति संख्यात हजार सागर कम हो जाती है, उसे प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। पाँचवीं करण लब्धि में अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन तरह के परिणाम कषायों की मंदता को लिए हुए क्रमवार होते हैं। इनमें से अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है तथा समस्त मोहनीय का उपशम होने से ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक चारित्र होता है॥३॥

अब क्षायिक भाव के नौ भेद कहते हैं-

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च॥४॥

अर्थ : केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा 'च' शब्द से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, ये नौ क्षायिक भाव हैं।

विशेषार्थ : ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के अत्यंत क्षय होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं। दानान्तराय कर्म का अत्यंत क्षय होने से दिव्य ध्वनि वगैरह के द्वारा अनंत प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है। लाभान्तराय का अत्यंत क्षय होने से, भोजन न करने वाले केवली भगवान के शरीर को बल देने वाले जो परम शुभ सूक्ष्म नोकर्म पुद्गल परमाणु प्रति समय केवली के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, जिनसे केवली का औदारिक शरीर बिना भोजन के कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक बना रहता है, वह क्षायिक लाभ है। भोगान्तराय का अत्यंत क्षय होने से सुगंधित पुष्पों की वर्षा, मंद सुगंध पवन का बहना आदि क्षायिक भोग है। उपभोगान्तराय कर्म का अत्यंत क्षय होने से सिंहासन, तीन छत्र, भामंडल, आदि का होना, क्षायिक उपभोग है। वीर्यान्तराय कर्म का अत्यंत क्षय होने से क्षायिक वीर्य होता है। मोहनीय कर्म की ऊपर कही सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। और समस्त मोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि अरहंत अवस्था में ये क्षायिक दान वगैरह शरीर नाम कर्म और तीर्थंकर नाम कर्म के रहते हुए होते हैं। इसी से सिद्धों में ये भाव इस रूप में नहीं होते क्योंकि सिद्धों में किसी भी कर्म का सद्भाव नहीं है। फिर भी जब सिद्धों के सब कर्मों का क्षय हो गया है तो कर्मों के क्षय से होने वाले क्षायिक दान आदि भाव होने चाहिए ही। इसलिए अनंत वीर्य और बाधा रहित अनंत सुख के रूप में ही ये भाव सिद्धों में पाए जाते हैं।।४।।

अब क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद बतलाते हैं-

ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रि-त्रि-पंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ।।५ ।।

अर्थ : मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहण रूप चक्षु दर्शन, शेष इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का सामान्य ग्रहण रूप अचक्षुदर्शन और अवधि ज्ञान से पहले होने वाला सामान्य ग्रहण रूप अवधि दर्शन ये तीन दर्शन, अंतराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सराग चारित्र और संयमासंयम अर्थात् देशव्रत ये अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं क्योंकि ये भाव अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।।५।।

अब औदयिक भाव के इक्कीस भेद कहते हैं-

गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ।।६ ।।

अर्थ : चार गति, चार कषायें, तीन लिंग अर्थात् वेद, एक मिथ्या दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छः लेश्याएँ ये औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

विशेषार्थ : चार गतियाँ- नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति, ये गति नाम कर्म के उदय से होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय चारित्र मोहनीय के भेद कषाय- वेदनीय के उदय से होती हैं। लिंग के दो भेद हैं- द्रव्य लिंग और भावलिंग। शरीर में होने वाले स्त्री और पुरुष के चिह्न आदि को द्रव्यलिंग कहते हैं। द्रव्य लिंग नाम कर्म के उदय से होता है। अतः उसका यहाँ अधिकार नहीं है; क्योंकि यहाँ आत्मा के भावों का कथन है। अतः स्त्री-पुरुष और दोनों से रमण करने की अभिलाषा रूप जो भाव वेद है उसी का यहाँ अधिकार है। सो चारित्र मोहनीय का भेद नो कषाय है और नो कषाय के भेद स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद कर्म के उदय से स्त्री लिंग, पुरुष लिंग और नपुंसक लिंग होते हैं। दर्शन मोह के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करने रूप मिथ्या दर्शन भाव होता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से न जानने रूप अज्ञान भाव होता है। चारित्र मोह के उदय से प्राणियों की हिंसा और इंद्रियों के विषयों से विरक्त न होने रूप असंयत भाव होता है। कर्म मात्र का उदय होने से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति न होने रूप असिद्धत्व भाव होता है।

लेश्या दो प्रकार की होती है- द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। जीव के भावों का अधिकार होने से यहाँ द्रव्यलेश्या का अधिकार नहीं है। कषायों के उदय से रंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। उसके छः भेद हैं- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल। सो आत्मा के भावों में अशुद्धता की अधिकता-न्यूनता को लेकर कृष्ण आदि शब्दों का उपचार किया है।

शंका : आगम में उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में लेश्या कही है किंतु इन गुणस्थानों में कषाय का उदय नहीं है। तब वहाँ लेश्या औदयिक कैसे है? अथवा वहाँ लेश्या ही कैसे है? क्योंकि कषाय से रंजित योग की प्रवृत्ति का नाम लेश्या है।

समाधान : इन गुणस्थानों में कषाय का उदय न होने पर भी पूर्व भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से लेश्या कही है। अर्थात् पहले यही योग कषाय से रंजित था, तब लेश्या कही थी। अब इन गुणस्थानों में कषाय का उदय तो रहा नहीं, परंतु योग वही है जो पहले कषाय के रंग में रंगा था। अतः उपचार से लेश्या कही है। अयोग केवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाने से लेश्या नहीं बतलाई है।

शंका : औदयिक भाव तो और भी अनेक हैं। जैसे अज्ञान औदयिक है वैसे ही अदर्शन भी औदयिक है। निद्रा निद्रा वगैरह भी औदयिक हैं। वेदनीय के उदय से होने

वाला सुख-दुःख भी औदयिक है। हास्य आदि छः नोकषाय भी औदयिक हैं। आयु के उदय से एक भव में रहना भी औदयिक है। गोत्र कर्म के उदय से होने वाले नीच उच्च गोत्र भी औदयिक हैं। नाम कर्म के उदय से होने वाली जाति वगैरह भी औदयिक हैं। इन सबका ग्रहण यहाँ क्यों नहीं किया?

समाधान : इन सबका अन्तर्भाव इन्हीं इक्कीस भावों में हो जाता है। दर्शनावरण के उदय से होने वाले दर्शन वगैरह का अन्तर्भाव मिथ्या दर्शन में किया है। हास्य वगैरह वेद के साथी हैं। अतः उन्हें वेद में गर्भित कर लिया है। वेदनीय, आयु और गोत्र के उदय से होने वाले भावों का अन्तर्भाव गति में कर लिया है क्योंकि गति के ग्रहण से अघातिया कर्म के उदय से होने वाले भाव ले लिए गए हैं। इसी प्रकार अन्य भावों का भी अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए॥६॥

अब पारिणामिक भाव के तीन भेद बतलाते हैं-

जीव-भव्याभव्यत्वानि च॥७॥

अर्थ : जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन जीव के असाधारण पारिणामिक भाव हैं। ये भाव जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं होते तथा इनके होने में किसी कर्म का उदय वगैरह भी कारण नहीं है। अतः ये असाधारण पारिणामिक भाव कहलाते हैं। वैसे साधारण पारिणामिक भाव तो अस्तित्व, नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि बहुत से हैं किंतु वे भाव अन्य अजीव द्रव्यों में भी पाए जाते हैं। इसीलिए उनको 'च' शब्द से ग्रहण कर लिया है। जीवत्व नाम चैतन्य का है। चैतन्य जीव का स्वाभाविक गुण है। इसलिए वह पारिणामिक है। जिसमें सम्यग्दर्शन आदि परिणामों के होने को योग्यता है वह भव्य है और जिसमें वैसी योग्यता का अभाव है वह अभव्य है। ये दोनों बातें भी स्वाभाविक ही हैं। जैसे जिन उड़द, मूँग वगैरह में पकने की शक्ति होती है, वे निमित्त मिलने पर पक जाते हैं और जिनमें वह शक्ति नहीं होती वे कितनी ही आग जलाने पर भी नहीं पकते। यही दशा जीवों की है॥७॥

इस तरह जीव के पाँच भाव होते हैं।

शंका : जीव के ये भाव नहीं हो सकते; क्योंकि ये भाव कर्मबंध की अपेक्षा से बतलाए हैं। और आत्मा अमूर्तिक है। अतः अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक कर्मों से नहीं बँध सकता।

समाधान : आत्मा एकान्त से अमूर्तिक ही नहीं है किंतु मूर्तिक भी है। कर्म बंध की अपेक्षा से तो मूर्तिक है क्योंकि अनादि काल से संसारी आत्मा कर्म पुद्गलों से दूध-पानी की तरह मिला हुआ है, कभी भी कर्म से जुदा नहीं हुआ। तथा शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से अमूर्तिक है क्योंकि यद्यपि कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह एक हो

रहे हैं फिर भी अपने चैतन्य स्वभाव को छोड़कर आत्मा कभी भी पुद्गल मय नहीं हो जाता। अतः अमूर्तिक है।

शंका : जब संसार अवस्था में आत्मा कर्म पुद्गलों के साथ दूध-पानी की तरह मिला हुआ है तो उसको हम कैसे जान सकते हैं कि यह आत्मा है?

समाधान : बंध की अपेक्षा से आत्मा और पुद्गल मिले होने पर भी दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। उस लक्षण से आत्मा की पहचान हो सकती है।

इसीलिए सूत्रकार जीव का लक्षण बतलाते हैं-

उपयोगो लक्षणम्॥८॥

अर्थ : जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्य के होने पर ही होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। यह उपयोग सब जीवों में पाया जाता है और जीव के सिवा अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता॥८॥

अब उपयोग के भेद कहते हैं-

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः॥९॥

अर्थ : वह उपयोग दो प्रकार का है- ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। ये पाँच ज्ञान और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान। तथा दर्शनोपयोग के चार भेद हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

विशेषार्थ : दर्शन और ज्ञान में साकार और अनाकार का भेद है। पदार्थ का आकार न लेकर जो सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है। क्योंकि एक पदार्थ से हटकर जब आत्मा दूसरे पदार्थ को जानने के अभिमुख होता है तो पदार्थ और इन्द्रिय का संबंध होते ही वस्तु के आकार वगैरह का ग्रहण नहीं होता। अतः दर्शन निराकार है। उसके पश्चात पदार्थ के आकार वगैरह के जानने को ज्ञान कहते हैं। छद्मस्थ के तो दर्शन के पश्चात ज्ञान होता है; क्योंकि छद्मस्थ पदार्थों को क्रम से जानता है; किंतु केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। दर्शन और ज्ञान में ज्ञान प्रधान है इसलिए सूत्र में उसके भेद पहले गिनाए हैं।

शंका : जैसे अवधि ज्ञान के पहले अवधि दर्शन माना है वैसे ही मनःपर्यय ज्ञान के पहले मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं माना?

समाधान : प्रथम तो आगम में दर्शनावरण कर्म के भेदों में मनःपर्यय दर्शनावरण नाम का कोई भेद नहीं गिनाया। जिसके क्षयोपशम से मनःपर्यय दर्शन हो। दूसरे, मनःपर्यय ज्ञान अपने विषय को अवधि ज्ञान की तरह सीधा ग्रहण नहीं करता। किंतु

मन का सहारा पाकर ग्रहण करता है। अतः जैसे मन अतीत और अनागत पदार्थ का विचार ही करता है। वैसे ही मन:पर्यय ज्ञान भी अतीत अनागत को जानता ही है तथा वर्तमान पदार्थ को भी विशेष रूप से ही जानता है तथा मन के निमित्त से होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् मन:पर्यय ज्ञान होता है। इसलिए भी मन:पर्यय दर्शन आवश्यक नहीं है॥९॥

आगे जीव के भेद बतलाते हैं-

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ : जीव दो प्रकार के हैं- संसारी और मुक्त।

विशेषार्थ : संसार का मतलब चक्कर लगाना है। उसी को परिवर्तन कहते हैं। परिवर्तन पाँच प्रकार का होता है- द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। कर्म और नोकर्म पुद्गलों को अमुक क्रम से ग्रहण करने और भोगकर छोड़ देने रूप परिभ्रमण का नाम द्रव्य परिवर्त्तन है। लोकाकाश के सब प्रदेशों में अमुक क्रम से उत्पन्न होने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम क्षेत्र परिवर्तन है। क्रमवार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में जन्म लेने और मरने रूप परिभ्रमण का नाम काल परिवर्तन है। नरकादि गतियों में बार-बार उत्पन्न होकर जघन्य से उत्कृष्ट पर्यंत सब आयु को भोगने रूप परिभ्रमण का नाम भव परिवर्तन है। इतना विशेष है कि देव गति में इकतीस सागर तक की ही आयु भोगनी चाहिए। सब योगस्थानों और कषाय स्थानों के द्वारा क्रम से ज्ञानावरण आदि सब कर्मों की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति को भोगने रूप परिभ्रमण को भाव परिवर्तन कहते हैं। संक्षेप में यह पाँच परिवर्तनों का निर्देश मात्र है। इस पंच परिवर्तन रूप संसार से जो जीव छूट जाते हैं वे मुक्त कहलाते हैं। संसारी पूर्वक ही मुक्त जीव होते हैं। इसलिए सूत्र में संसारी को पहले रखा है॥१०॥

अब संसारी जीव के भेद कहते हैं-

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

अर्थ : संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं- मन सहित और मन रहित। मनसहित जीवों की संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीव शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, बुलाने पर आ जाते हैं और इशारे वगैरह को समझ लेते हैं। मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी जीव शिक्षा उपदेश वगैरह ग्रहण नहीं कर सकते। इससे अमनस्क को सूत्र में पीछे रखा और समनस्क को पहले रखा है॥११॥

आगे संसारी जीव के और भी भेद बतलाते हैं-

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अर्थ : संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है वह जीव त्रस कहलाता है और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय होता है वह जीव स्थावर कहलाता है।

विशेषार्थ : कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो चले-फिरे वे त्रस हैं और जो एक ही स्थान पर ठहरे रहें वे स्थावर हैं। किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से जो जीव गर्भ में हैं या अंडे में हैं वे चुपचाप पड़े सोते हैं अथवा मूर्च्छित पड़े हैं। वे त्रस नहीं कहे जा सकेंगे। तथा हवा, आग और पानी स्थावर हैं किंतु इनमें हलन-चलन वगैरह देखा जाता है अत: वे त्रस कहे जाएँगे। इसलिए चलने और ठहरे रहने की अपेक्षा त्रस स्थावरपना नहीं है किंतु त्रस और स्थावर नाम कर्म की अपेक्षा से ही है। इस सूत्र में भी त्रस शब्द को स्थावर से पहले रखा है क्योंकि त्रस स्थावर से पूज्य है तथा अल्प अक्षर वाला भी है॥१२॥

स्थावर का अधिक कथन नहीं है। इसलिए सूत्रकार क्रम का उल्लंघन करके त्रस से पहले स्थावर के भेद कहते हैं-

पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ : पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं। इन स्थावर जीवों के चार प्राण होते हैं- स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

विशेषार्थ : आगम में इन पाँचों स्थावरों में से प्रत्येक के चार-चार भेद बतलाए हैं। जैसे पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव। जो स्वयं ही बनी हुई अचेतन जमीन है उसे पृथिवी कहते हैं। जिस पृथिवी में से जीव निकल गया उसे पृथिवी काय कहते हैं। जीव सहित पृथिवी को पृथिवी कायिक कहते हैं। और जो जीव पहले शरीर को छोड़कर पृथिवी काय में जन्म लेने के लिए जा रहा है, जब तक वह पृथिवी को अपने शरीर रूप से ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक उस जीव को पृथिवी जीव कहते हैं। इसी तरह अप् (जल) तेज, वगैरह के भी भेद जान लेने चाहिए॥१३॥

अब त्रस के भेद कहते हैं-

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अर्थ : दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण होते हैं- स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, काय बल, वचन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। तेइन्द्रिय के एक घ्राणेन्द्रिय के बढ़ जाने से सात प्राण होते हैं। चौइन्द्रियके एक चक्षुइन्द्रिय के बढ़ जाने से आठ प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय असैनी

के एक श्रोत्र इन्द्रिय के बढ़ जाने से नौ प्राण होते हैं और सैनी पंचेन्द्रिय के मनोबल के बढ़ जाने से दस प्राण होते हैं॥१४॥

अब इन्द्रियों की संख्या बतलाते हैं-

पञ्चेन्द्रियाणि॥१५॥

अर्थ : इन्द्रियाँ पाँच होती हैं॥१५॥

इन इन्द्रियों के भेद कहते हैं-

द्विविधानि॥१६॥

अर्थ : इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय॥१६॥

अब द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं-

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्॥१७॥

अर्थ : निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। कर्म के द्वारा होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है- आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म प्रदेशों की इन्द्रियों के आकार रचना होने को आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा उन आत्म प्रदेशों के प्रतिनियत स्थान में पुद्गलों की इन्द्रिय के आकार रचना होने को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति का उपकार करने वाले पुद्गलों को उपकरण कहते हैं। उपकरण के भी दो भेद होते हैं- आभ्यंतर और बाह्य। जैसे नेत्रों में जो काला और सफेद मंडल है वह आभ्यंतर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं॥१७॥

आगे भावेन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं-

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्॥१८॥

अर्थ : लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। इस लब्धि के होने पर ही जीव के द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है तथा लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ : आशय यह है कि जैसे किसी जीव में देखने की शक्ति तो है किंतु उसका उपयोग दूसरी ओर होने से वह सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता है। इसी तरह किसी वस्तु को जानने की इच्छा के होते हुए भी यदि क्षयोपशम न हो तो नहीं जान सकता। अत: ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा जो ज्ञेय पदार्थ की ओर अभिमुख होता है वह उपयोग है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थों का ज्ञान होता है॥१८॥

इन्द्रियों के नाम निम्न प्रकार हैं-

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थ : स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियों के नाम हैं।

विशेषार्थ : वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय होने से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थ को छूकर जानता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा रस को ग्रहण करता है उसे रसनाइन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा गंध को ग्रहण करता है उसे घ्राणइन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा देखता है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं और जिसके द्वारा सुनता है उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं॥१९॥

अब इन इन्द्रियों के विषय बतलाते हैं-

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ : स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। रसनाइन्द्रिय का विषय रस है। घ्राण इन्द्रियका विषय गंध है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द है। ऐसे ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती॥२०॥

शंका : मन उपयोग में सहायक है या नहीं?

समाधान : सहायक है, बिना मन की सहायता के इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं करतीं।

शंका : तो क्या मन का काम इतना ही है कि वह इन्द्रियों की सहायता करे या वह स्वयं भी कुछ जानता है?

आचार्य इसके समाधान के लिए सूत्र कहते हैं-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थ : अनिन्द्रिय अर्थात् मन और श्रुत अर्थात् श्रुत ज्ञान का विषयभूत पदार्थ। श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है। अर्थात् श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन की सहायता से ही आत्मा श्रुतज्ञान के विषय को जानता है। अतः श्रुतज्ञान का होना मन का प्रमुख काम है। अपने इस काम में वह किसी इन्द्रिय की सहायता नहीं लेता॥२१॥

अब स्पर्शन इन्द्रिय किसके होती है सो बतलाते हैं-

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अर्थ : पृथिवी काय से लेकर वनस्पति काय पर्यंत जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।।२२।।

आगे शेष इन्द्रियों के स्वामियों को बतलाते हैं-

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।।२३।।

अर्थ : कृमि आदि के एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है। अर्थात् लट, शंख, जोंक वगैरह के स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी, खटमल वगैरह के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरा, मक्खी, डांस, मच्छर वगैरह के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। और मनुष्य, पशु-पक्षी वगैरह के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।।२३।।

अब संज्ञी जीव का स्वरूप बतलाते हैं-

संज्ञिनः समनस्काः।।२४।।

अर्थ : मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं। अतः मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव तो सब असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रियों में देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी होते हैं किंतु तिर्यंच मन रहित भी होते हैं।

शंका : मन का काम हित और अहित की परीक्षा करके हित को ग्रहण करना और अहित को छोड़ देना है। इसी को संज्ञा कहते हैं। अतः जब संज्ञा और मन दोनों का एक ही अभिप्राय है तो 'संज्ञी' और 'समनस्क' का मतलब भी एक ही है। फिर सूत्र में दोनों पद क्यों रखे? केवल 'संज्ञिनः' कहने से भी काम चल सकता है?

समाधान : यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो 'संज्ञा' शब्द के अनेक अर्थ हैं- संज्ञा नाम को भी कहते हैं। अतः जितने नाम वाले पदार्थ हैं वे सब संज्ञी कहलाएँगे। संज्ञा ज्ञान को भी कहते हैं और ज्ञान सभी जीवों में पाया जाता है। अतः सभी संज्ञी कहे जाएँगे। भोजन वगैरह की इच्छा का नाम भी संज्ञा है जो सभी जीवों में पाई जाती है। अतः सभी संज्ञी हो जाएँगे। इसलिए जिसके मन है उसी को संज्ञी कहना उचित है। दूसरे, गर्भ अवस्था में, मूर्छित अवस्था में, सुप्त अवस्था में हित-अहित का विचार नहीं होता, अतः उस अवस्था में, संज्ञी जीव भी असंज्ञी कहे जाएँगे। किंतु मन के होने से उस समय भी वे संज्ञी ही हैं। अतः संज्ञी और समनस्क दोनों पदों को रखना ही उचित है।।२४।।

शंका : जिस समय जीव पूर्व शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है उस समय उनके मन तो रहता नहीं है। फिर वह कैसे गमन करता है?

इस शंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

अर्थ : 'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं। विग्रह अर्थात् शरीर; शरीर के लिए गमन करने को विग्रह गति कहते हैं। अथवा विरुद्ध ग्रहण करने को विग्रह कहते हैं। इसका आशय यह है कि संसारी जीव हमेशा कर्म और नोकर्म को ग्रहण करता रहता है किंतु विग्रह गति में पुद्गलों का तो ग्रहण होता है, नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है। इसलिए उसको विरुद्ध ग्रहण कहा है और विरुद्ध ग्रहण पूर्वक जो गमन होता है उसे विग्रह गति कहते हैं तथा कार्मण शरीर को कर्म कहते हैं। उस कार्मण शरीर के द्वारा जो आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है उसको कर्मयोग कहते हैं। अतः सूत्र का अर्थ हुआ- विग्रह गति में कर्मयोग होता है। उस कर्मयोग के द्वारा ही जीव नवीन कर्मों को ग्रहण करता है तथा मृत्यु स्थान से अपने जन्म लेने के नए स्थान तक जाता है॥२५॥

अब यह बताते हैं कि जीव और पुद्गलों का गमन किस क्रम से होता है-

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ : लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिर्यक् दिशा में आकाश के प्रदेशों की सीधी कतार को श्रेणी कहते हैं। जीवों और पुद्गलों की गति आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार ही होती है। पंक्ति को लांघकर विदिशाओं में गमन नहीं होता।

शंका : यहाँ तो जीव का अधिकार है, पुद्गल का ग्रहण यहाँ कैसे किया?

समाधान : यहाँ 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' सूत्र से गति का अधिकार है। फिर इस सूत्र में 'गति' पद का ग्रहण पुद्गल का ग्रहण करने के लिए ही किया गया है तथा आगे 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्र में जीव का अधिकार होते हुए जो जीव का ग्रहण किया है उससे भी यही अर्थ निकलता है कि यहाँ पुद्गल की गति भी बतलाई गई है।

विशेषार्थ : यद्यपि जहाँ जीव और पुद्गल की गति श्रेणी के अनुसार बतलाई है किंतु इतना विशेष है कि सभी जीव पुद्गलों की गति श्रेणी के अनुसार नहीं होती। जिस समय जीव मर कर नया शरीर धारण करने के लिए जाता है उस समय उसकी गति श्रेणी के अनुसार ही होती है। तथा पुद्गल का शुद्ध परमाणु जो एक समय में चौदह राजू गमन करता है वह भी श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है। शेष गतियों के लिए कोई नियम नहीं है॥२६॥

अब मुक्त जीव की गति बतलाते हैं-

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थ : मुक्त जीव की गति मोड़े रहित होती है। अर्थात् मुक्त जीव श्रेणी के अनुसार ऊपर गमन करके एक समय में ही सिद्ध क्षेत्र में जाकर ठहर जाता है।

शंका : सूत्र में तो केवल 'जीव' कहा है फिर उसका अर्थ मुक्त जीव कैसे ले लिया?

समाधान : आगे के सूत्र में 'संसारी' का ग्रहण किया है, अतः इस सूत्र में जीव से मुक्त जीव लेना चाहिए॥२७॥

संसारी जीव जब परलोक को जाता है तो उसकी गति कैसे होती है, यह बतलाते हैं -

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ : संसारी जीव की गति चार समय से पहले मोड़े सहित होती है। अर्थात् संसारी जीव जब नया शरीर धारण करने के लिए गमन करता है तो श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है। किंतु यदि मरण स्थान से लेकर जन्म स्थान तक जाने के लिए सीधी श्रेणी नहीं होती तो स्थान के अनुसार एक, दो या तीन मोड़ लेता है। प्रत्येक मोड़ में एक समय लगता है। अतः एक मोड़े वाली गति में दूसरे समय में जन्म स्थान पर पहुँचता है, दो मोड़े वाली गति में तीसरे समय में और तीन मोड़े वाली गति में चौथे समय में अपने जन्म स्थान पर पहुँच जाता है। सूत्र में आए 'च' शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि संसारी जीव की गति बिना मोड़े वाली भी होती है॥२८॥

आगे बतलाते हैं कि बिना मोड़े वाली गति में कितना काल लगता है-

एक समयाऽविग्रहा ॥२९॥

अर्थ : बिना मोड़े वाली गति में एक समय लगता है। इसी को ऋजुगति कहते हैं॥२९॥

आगे विग्रह गति में आहारक और अनाहारक का नियम बतलाते हैं-

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

अर्थ : विग्रह गति में जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीर और छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। और शरीर के योग्य पुद्गलों के ग्रहण न करने को अनाहार कहते हैं। जो एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह एक समय तक अनाहारक रहता है। जो दो मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह दो समय तक अनाहारक रहता है और जो तीन मोड़े लेकर उत्पन्न होता है वह तीन समय तक अनाहारक रहता है। अर्थात् मोड़े के समय अनाहारक रहता है किंतु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पत्ति स्थान के लिए सीधा गमन करता है उस समय आहारक हो जाता है॥३०॥

इस तरह छह सूत्रों के द्वारा गति का कथन करके जन्म के भेद बतलाते हैं-

सम्मूर्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थ : जन्म तीन प्रकार का है- सम्मूर्छन जन्म, गर्भ जन्म और उपपाद जन्म। तीनों लोकों में सर्वत्र बिना माता-पिता के संबंध के सब ओर से पुद्गलों को ग्रहण करके जो शरीर की रचना हो जाती है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। स्त्री के उदर में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। और जहाँ जाते ही एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण शरीर बन जाता है ऐसे देव और नारकियों के जन्म को उपपाद जन्म कहते हैं। इस तरह संसारी जीवों के तीन प्रकार के जन्म हुआ करते हैं॥३१॥

आगे योनि के भेद बतलाते हैं-

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ : सचित्त, शीत, संवृत, इनके उल्टे अचित्त, उष्ण, विवृत, और इन तीनों का मेल अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत्त विवृत्त, ये योनि के नौ भेद होते हैं। जीवों के उत्पन्न होने के स्थान विशेष को योनि कहते हैं। जो योनी चेतना सहित हो उसे सचित्त योनि कहते हैं, अचेतन हो तो अचित्त कहते हैं और दोनों रूप हो तो सचित्ताचित्त कहते हैं। शीत स्पर्श रूप हो तो शीतयोनि कहते हैं, उष्ण स्पर्श रूप हो तो उष्ण योनि कहते हैं, और दोनों रूप हो तो शीतोष्ण योनि कहते हैं। योनि स्थान ढंका हुआ हो, स्पष्ट दिखाई न देता हो तो उसे संवृत योनि कहते हैं। स्पष्ट दिखाई देता हो तो उसे विवृत्त योनि कहते हैं और कुछ ढँका हुआ तथा कुछ खुला हुआ हो तो उसे संवृत्त-विवृत्त योनि कहते हैं। योनि और जन्म में आधार और आधेय का भेद है। योनि आधार है और जन्म आधेय है; क्योंकि सचित्त आदि योनियों में जीव सम्मूर्छन आदि जन्म लेकर उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ : उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ जीवों की योनियाँ बतलाते हैं- उक्त नौ योनियों में से देव नारकियों की योनि अचित्त, शीत और उष्ण तथा संवृत्त होती है। गर्भ जन्म वालों की योनि, सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृत्त-विवृत्त होती है। सम्मूर्छन जन्म वालों की योनि सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त शीत, उष्ण और शीतोष्ण होती है। इतना विशेष है कि तेजस्कायिक जीवों की उष्ण योनि ही होती है तथा एकेन्द्रियों की संवृत्त योनि और विकलेन्द्रियों की विवृत्त योनि होती है। इस तरह सामान्य से नौ योनियाँ होती हैं और विस्तार से चौरासी लाख योनियाँ कही हैं॥३२॥

अब बतलाते हैं किन प्राणियों का कौन जन्म होता है-

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थ : जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म होता है। जन्म के समय प्राणियों के ऊपर, जाल की तरह जो रुधिर मांस की खोल लिपटी रहती है उसे जरायु या जेर कहते हैं और उससे जो उत्पन्न होते हैं उसे जरायुज कहते हैं। जैसे मनुष्य, बैल वगैरह। जो जीव अंडे से उत्पन्न होते हैं उन्हें अंडज कहते हैं- जैसे कबूतर आदि पक्षी। और जिसके ऊपर कुछ भी आवरण नहीं होता तथा जो योनि से निकलते ही चलने-फिरने लगता है उसे पोत कहते हैं, जैसे शेर वगैरह। इन तीनों प्रकार के प्राणियों के गर्भ जन्म ही होता है॥३३॥

आगे बतलाते हैं कि उपपाद जन्म किसके होता है-

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ : देवों और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है॥३४॥

आगे शेष जीवों के कौन जन्म होता है यह बतलाते हैं-

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

अर्थ : गर्भ जन्म वाले मनुष्य तिर्यंचों और उपपाद जन्म वाले देव नारकियों के सिवा बाकी के एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और किन्हीं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सम्मूर्छन जन्म ही होता है॥३५॥

अब शरीरों का वर्णन करते हैं-

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं। स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। जो एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हल्का, भारी आदि किया जा सके उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के द्वारा सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिए, अथवा संयम की रक्षा के लिए, अन्य क्षेत्र में वर्तमान केवली या श्रुत केवली के पास भेजने को अथवा अन्य क्षेत्र के जिनालयों की वंदना करने के उद्देश्य से जो शरीर रचा जाता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक आदि शरीरों को कांति देने वाला शरीर तैजस कहलाता है और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं॥३६॥

जैसे औदारिक शरीर दिखाई देता है वैसे वैक्रियिक आदि शरीर क्यों नहीं दिखाई देते? इसका उत्तर देते हैं-

परं परं सूक्ष्मम्।।३७।।

अर्थ : औदारिक से आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस सूक्ष्म है और तैजस से कार्मण सूक्ष्म है।।३७।।

यदि आगे आगे के शरीर सूक्ष्म हैं तो उनके बनने में पुद्गल के परमाणु भी कम कम लगते होंगे? इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्।।३८।।

अर्थ : यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ परमाणु है। परमाणुओं की अपेक्षा से तैजस से पहले के शरीर असंख्यात गुने, असंख्यात गुने हैं। अर्थात् औदारिक शरीर में जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुने परमाणु वैक्रियिक शरीर में हैं और वैक्रियिक शरीर से असंख्यात गुने परमाणु आहारक शरीर में होते हैं।

शंका : यदि आगे आगे के शरीर में असंख्यात गुने, असंख्यात गुने परमाणु होते हैं तो आगे आगे के शरीर तो औदारिक से भी स्थूल होने चाहिए। फिर आगे आगे के शरीर सूक्ष्म होते हैं, ऐसा क्यों कहा?

समाधान : असंख्यात गुने असंख्यात गुने, परमाणुओं से बने होने पर भी आगे के शरीर स्थूल नहीं हैं बल्कि बंधन के ठोस होने से उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। जैसे रुई का ढेर और लोहे का पिंड।।३८।।

आगे तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश बतलाते हैं-

अनन्तगुणे परे।।३९।।

अर्थ : आहारक शरीर से तैजस में अनंतगुने परमाणु होते हैं और तैजस से कार्मण में अनंतगुने परमाणु होते हैं।।३९।।

शंका : यदि तैजस और कार्मण शरीर में इतने परमाणु होते हैं तो इन दोनों शरीरों के साथ होने से संसारी जीव अपने इच्छित प्रदेश को गमन नहीं कर सकेगा?

इस आशंका को दूर करने के लिएं आगे का सूत्र कहते हैं-

अप्रतिघाते।।४०।।

अर्थ : तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। अर्थात् जैसे अग्नि लोहे के पिंड में घुस जाती है वैसे ही ये दोनों शरीर भी वज्रमय पटल से भी नहीं रुकते हैं।

शंका : वैक्रियिक और आहारक शरीर भी सूक्ष्म होने के कारण किसी से रुकते नहीं हैं, फिर इनको अप्रतिघाती क्यों नहीं कहा?

समाधान : यहाँ उन्हीं को अप्रतिघाती कहा है जो समस्त लोक में कहीं भी नहीं रुकते। वैक्रियिक और आहारक समस्त लोक में अप्रतिघाती नहीं है। क्योंकि आहारक शरीर तो अढाई द्वीप तक ही जा सकता है और मनुष्यों को ऋद्धि द्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक भी मनुष्य लोक तक ही जा सकता है तथा देवों का वैक्रियिक शरीर त्रस नाली के भीतर ही ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक जा सकता है। अत: समस्त लोक में अप्रतिघाती तो तैजस और कार्मण ही हैं।

इन दो शरीरों के विषय में और भी विशेष कहते हैं-

अनादिसम्बन्धे च ।।४१ ।।

अर्थ : यहाँ 'च' शब्द विकल्पार्थक है। अत: आत्मा से तैजस और कार्मण का संबंध अनादि भी है और सादि भी है। कार्य कारण रूप बंध की परम्परा की अपेक्षा तो अनादि संबंध है। अर्थात् जैसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर का संबंध अनित्य है, कभी कोई शरीर होता है और कभी नहीं होता। ऐसी बात तैजस और कार्मण में नहीं है। ये दोनों शरीर तो सब अवस्थाओं में संसारी जीव के साथ सदा ही रहते हैं। अत: अनादि हैं तथा पहले के बँधे तैजस और कार्मण की प्रति समय निर्जरा होती रहती है और नवीन का बंध होता रहता है। इस अपेक्षा से सादि हैं।

विशेषार्थ : जो शरीर का आत्मा के साथ संबंध सर्वथा सादि या सर्वथा अनादि ही मानते हैं उनके मत में अनेक दोष आते हैं। यदि आत्मा से शरीर का संबंध सादि ही माना जाए तो शरीर का संबंध होने से पहले आत्मा अत्यंत शुद्ध ठहरी। ऐसी अवस्था में सर्वथा शुद्ध आत्मा के साथ शरीर का संबंध बिना निमित्त के कैसे हो सकता है? यदि शुद्ध आत्मा के भी बिना निमित्त के शरीर का संबंध हो सकता है तो मुक्त जीवों के भी फिर से शरीर संबंध होने का प्रसंग आ जाएगा। तब तो मुक्तात्मा का ही अभाव हो जाएगा। यदि आत्मा और शरीर का संबंध एकान्त से अनादि ही माना जाएगा तो जो सर्वथा अनादि होता है उसका अंत नहीं होता। अत: जीव की कभी मुक्ति नहीं होगी। इसलिए शरीर का संबंध कदाचित् सादि और कदाचित् अनादि ही मानना उचित है।

ये दोनों शरीर किसी-किसी जीव के होते हैं अथवा सब जीवों के होते हैं? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सर्वस्य ।।४२ ।।

अर्थ : ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं।।४२।।

आगे बतलाते हैं कि इन पाँच शरीरों में से एक जीव के एक साथ कितने शरीर

हो सकते हैं-

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।४३ ।।

अर्थ : तैजस और कार्मण शरीर को लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर तक विभाग कर लेना चाहिए। अर्थात् विग्रह गति में तो जीव के तैजस और कार्मण ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रह गति के सिवा अन्य अवसरों पर मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। तथा छठे गुणस्थान वर्ती किसी-किसी मुनि के औदारिक आहारक तैजस कार्मण या औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण ये चार शरीर होते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ न होने से एक साथ पाँच शरीर नहीं होते।।४३।।

आगे शरीर के विषय में विशेष कथन करते हैं-

निरुपभोगमन्त्यम् ।।४४ ।।

अर्थ : अंत का कार्मण शरीर उपभोग रहित है। इन्द्रियों के द्वारा शब्द वगैरह के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। इस प्रकार का उपभोग कार्मण शरीर में नहीं होता इसलिए वह निरुपभोग है। आशय यह है कि विग्रह गति में कार्मण शरीर के द्वारा ही योग होता है किंतु उस समय लब्धि रूप भावेन्द्रिय ही होती है, द्रव्येन्द्रिय नहीं होती। इसलिए शब्द आदि विषयों का अनुभव विग्रह गति में न होने से कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है।

शंका : तैजस शरीर भी तो निरुपभोग है फिर उसे क्यों नहीं कहा?

समाधान : तैजस शरीर तो योग में भी निमित्त नहीं है। अर्थात् जैसे अन्य शरीरों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, तैजस के निमित्त से तो वह भी नहीं होता। अत: वह तो निरुपभोग ही है। इसी से यहाँ उसका कथन नहीं किया; क्योंकि निरुपभोग और सोपभोग का विचार करते समय उन्हीं शरीरों का अधिकार है जो योग में निमित्त होते हैं। ऐसे शरीर तैजस के सिवा चार ही हैं। उनमें भी केवल कार्मण शरीर निरुपभोग है, बाकी के तीन शरीर सोपभोग हैं क्योंकि उनमें इन्द्रियाँ होती हैं और उनके द्वारा जीव विषयों को भोगता है।।४४।।

अब यह बतलाते हैं कि किस जन्म से कौनसा शरीर होता है-

गर्भ-सम्मूर्छनजमाद्यम् ।।४५ ।।

अर्थ : गर्भ जन्म तथा सम्मूर्छन जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है।।४५।।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६ ।।

अर्थ : उपपाद जन्म से जो शरीर उत्पन्न होता है वह वैक्रियिक शरीर है।।४६।।

यदि वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से उत्पन्न होता है तो क्या बिना उपपाद जन्म के वैक्रियिक शरीर नहीं होता? इस आशंका को दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

लब्धिप्रत्ययं च ।।४७ ।।

अर्थ : लब्धि से भी वैक्रियिक शरीर होता है। विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि की प्राप्ति होती है उसे लब्धि कहते हैं। अतः मनुष्यों के तप के प्रभाव से भी वैक्रियिक शरीर हो जाता है।।४७।।

तप के प्रभाव से वैक्रियिक शरीर ही होता है या अन्य शरीर भी होते हैं? इस आशंका का समाधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

तैजसमपि ।।४८ ।।

अर्थ : तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है।

विशेषार्थ : तैजस शरीर दो प्रकार का होता है- एक शरीर से निकलकर बाहर जाने वाला और दूसरा शरीर में ही रहकर उसको कांति देने वाला, जो सब संसारी जीवों के पाया जाता है। निकलने वाला तैजस शुभ भी होता है और अशुभ भी। किसी क्षेत्र के लोगों को रोग, दुर्भिक्ष वगैरह से पीड़ित देखकर यदि तपस्वी मुनि के हृदय में अत्यंत करुणा उत्पन्न हो जाए तो दाहिने कंधे से शुभ तैजस निकलकर बारह योजन क्षेत्र के मनुष्यों का दुःख दूर कर पुनः मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। और यदि तपस्वी मुनि किसी क्षेत्र के मनुष्यों पर अत्यंत क्रुद्ध हो जाते हैं तो उनके तप के प्रभाव से बाएँ कंधे से सिन्दूर के समान लाल अशुभ तैजस निकलता है और उस क्षेत्र में जाकर बारह योजन के भीतर के जीवों को जलाकर राख कर देता है। पीछे मुनि को भी जला डालता है।।४८।।

आगे आहारक शरीर का स्वरूप कहते हैं-

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।४९ ।।

अर्थ : आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्त संयत मुनि के ही होता है।

विशेषार्थ : आहारक शरीर का रंग सफेद और ऊँचाई एक हाथ होती है। समचतुरस्र संस्थान होता है, धातु उपधातु से रहित होता है। न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। प्रमत्त संयत मुनि के मस्तक से उत्पन्न होता है। कभी तो ऋद्धि का

सद्भाव जानने के लिए आहारक शरीर की रचना होती है। कभी सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करने के लिए। सो मुनि के मस्तक से निकलकर वह केवली भगवान के पास जाता है और सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करके अन्तर्मुहूर्त में लौटकर मुनि के शरीर में ही प्रवेश कर जाता है, तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से भी निकलता है॥४९॥

इस तरह चौदह सूत्रों के द्वारा पाँच शरीरों का कथन करके अब सूत्रकार लिंग का कथन करते हैं-

नारक-सम्मूर्छिनो नपुंसकानि॥५०॥

अर्थ : नारकी और सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं॥५०॥

न देवाः॥५१॥

अर्थ : देव नपुंसक लिंग वाले नहीं होते। देवगति में पुरुष वेद और स्त्रीवेद दो ही वेद होते हैं॥५१॥

शेषास्त्रिवेदाः॥५२॥

अर्थ : नारकी, देव तथा सम्मूर्छन जीवों के सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छ खंड के मनुष्यों में स्त्री-पुरुष वेद ही होते हैं।

अब आगे यह बतलाते हैं कि कौन-कौन जीव पूरी आयु भोग कर ही मरण करते हैं-

औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥५३॥

अर्थ : औपपादिक अर्थात् देव नारकी, चरमोत्तम देह अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमियाँ जीव पूरी आयु भोग कर ही शरीर छोड़ते हैं। विष, शस्त्र वगैरह से इनकी आयु नहीं छिदती। इसके सिवा शेष जीवों की आयु का कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ : कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों की भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है। उदीरणा के होने से आयु की स्थिति जल्दी पूरी होकर अकाल में ही मरण हो जाता है। जैसे आम वगैरह को पाल देकर समय से पहले ही पका लिया जाता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है- किसी जीव ने मनुष्यायु का बंध किया और उसकी स्थिति सौ वर्ष की बाँधी। सो आयु कर्म का जितना प्रदेश बंध किया, सौ वर्ष के जितने समय होते हैं उतने समयों में उन कर्म परमाणुओं की निषेक रचना तत्काल हो गई।

जब वह मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुआ तो प्रति समय आयु कर्म का एक-एक निषेक उदय में आकर खिरने लगा। यदि इसी तरह क्रम से एक-एक समय में एक-एक आयु का निषेक उदय में आता रहता तो सौ वर्ष में जाकर पूरे निषेक खिरते और इस तरह वह जीव पूरे सौ वर्ष तक मनुष्य पर्याय में रहकर मरण करता। किंतु बावन वर्ष की उम्र तक तो एक-एक समय में एक-एक निषेक की निर्जरा होती रही। बाद में पाप कर्म का उदय आ जाने से किसी ने उसे जहर दे दिया अथवा उसने स्वयं जहर खा लिया, या कोई भयानक रोग हो गया अथवा किसी ने मार डाला तो अड़तालीस वर्षों में उदय आने वाले निषेकों की अन्तमुहूर्त में उदीरणा हो जाती है। यह अकाल मरण कहलाता है। किंतु यदि किसी ने बावन वर्ष की ही आयु बाँधी हो और वह बावन वर्ष की आयु पूरी करके मरे तो वह अकाल मरण नहीं है।

शंका : जैसे कर्मभूमि के मनुष्यों और तिर्यंचों की आयुघट जाती है वैसे ही आयु बढ़ भी सकती है या नहीं?

समाधान : जो आयु हम भोग रहे हैं वह बढ़ नहीं सकती; क्योंकि उस आयु का बंध पूर्व जन्म में हो चुका है। अतः उसमें अब बढ़ने की गुंजाइश नहीं है, हाँ घट जरूर सकती है।।५०।।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अब जीवों का आधार बतलाते हुए, पहले अधोलोक का वर्णन करते हैं-

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः प्रभा-भूमयो घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।।१ ।।

विशेषार्थ : रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ नीचे नीचे हैं। ये भूमियाँ घनोदधिवात वलय के आधार हैं, घनोदधि वातवलय घनवात वलय के आधार हैं, घन वातवलय तनु वातवलय के आधार है और तनु वातवलय आकाश के आधार हैं। तथा आकाश अपने ही आधार है, क्योंकि आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिए उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

विशेषार्थ : रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटी है। उसकी मोटाई के तीन भाग हैं। ऊपर का खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसके नीचे का पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और उसके नीचे का अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर भाग के ऊपर और नीचे एक-२ हजार योजन छोड़कर बीच के चौदह हजार मोटे और एक राजू प्रमाण लंबे चौड़े भागों में राक्षसों के सिवा शेष सात प्रकार के व्यन्तर और असुर कुमारों के सिवा शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। पंक भाग में राक्षस और असुर कुमार रहते हैं। और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है। जिसमें नारकी रहते हैं। पहली पृथ्वी के नीचे कुछ कम एक राजू अन्तराल छोड़कर दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी है उसकी मोटाई बत्तीस हजार योजन है। उसके नीचे कुछ कम राजु अन्तराल छोड़कर तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी है। वह अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे कुछ कम राजु अन्तर देकर चौथी पृथ्वी चौबीस हजार योजन मोटी है। इसी तरह नीचे नीचे कुछ कम एक राजु का अंतर देकर बीस हजार योजन मोटी पाँचवीं पृथ्वी और सोलह हजार योजन मोटी छठी पृथ्वी है। फिर कुछ कम एक राजुका अंतर देकर आठ हजार योजन मोटी सातवीं पृथ्वी है। सातवीं पृथ्वीं से एक राजु नीचे लोक का अन्त है। इस सातों पृथ्वियों की लंबाई-चौड़ाई लोक के अन्त तक है। जिस पृथ्वी का जैसा नाम है वैसी ही उसमें प्रभा है।।१।।

तासु त्रिंशत्-पंचविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पंचोनैक-नरक-शतसहस्राणि-पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।२ ।।

अर्थ : उन रत्नप्रभा आदि भूमियों में नरकों की संख्या इस प्रकार है-पहली पृथ्वी

के अबहुल भाग में तीस लाख, दूसरी पृथ्वी में पच्चीस लाख, तीसरी पृथ्वी में पंद्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं पृथ्वी में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में पाँच नरक अर्थात बिल हैं।

विशेषार्थ : जैसे पृथ्वी में गड्ढे होते हैं वैसे ही नारकियों के बिल होते हैं। कुछ बिल संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन लंबे चौड़े हैं। पहले नरक की पृथ्वी में तेरह पटल हैं और नीचे नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दो दो पटल कम होते गए हैं। अर्थात् दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात, पाँचवीं में पाँच, छठी में तीन और सातवीं में एक ही पटल है। इस तरह कुल पृथ्वियों में उनचास पटल हैं जो नीचे नीचे हैं। इन पटलों में इंद्रक, श्रेणी बद्ध और प्रकीर्णक, इस तरह तीन प्रकार के बिल होते हैं। प्रत्येक पटल के बीच में जो बिल है उसे इंद्रक बिल कहते हैं। उस इंद्रक बिल की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में जो पंक्तिवार बिल है वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं और दिशा विदिशाओं के अन्तराल के बिना क्रम के जो बिल हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। प्रथम पटल की चारों दिशाओं में उनचास, उनचास और विदिशाओं में अड़तालीस अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं। आगे, नीचे नीचे प्रत्येक पटल की चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में एक एक बिल घटता जाता है। इस तरह प्रत्येक पटल में, आठ आठ बिल घटते जाते हैं। घटते-घटते सातवें नरक के पटल में जो कि उनचासवाँ पटल है, केवल दिशाओं में ही एक एक बिल है। विदिशाओं में बिल नहीं है अतः वहाँ पाँच ही बिल हैं। सातों नरकों में कुल बिल चौरासी लाख हैं। जिनमें उनचास इंद्रक बिल और दो हजार छह सौ चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। शेष तेरासी लाख नब्बे हजार तीन सौ सैंतालिस प्रकीर्णक बिल हैं। उनचास इंद्रक बिलों में से प्रथम नरक का पहला इंद्रक पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला है जो अढ़ाई द्वीप के बराबर है और उसी के ठीक नीचे है। नीचे क्रम से घटते घटते सातवें नरक का इंद्रक एक लाख योजन विस्तार वाला है। सभी इंद्रक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, सभी श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णकों में से कुछ संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

अब नारकियों का वर्णन करते हैं-

नारका नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अर्थ : नारकी जीवों के सदा अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह,

अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया होती है।

विशेषार्थ : पहली और दूसरी पृथ्वी के नारकियों के कापोत लेश्या होती है, तीसरी में ऊपर के बिलों में कापोत और नीचे के बिलों में नील लेश्या होती है। चौथी में नील लेश्या ही है। पाँचवीं में ऊपर के बिलों में नील और नीचे के बिलों में कृष्ण लेश्या होती है। छठी में कृष्ण लेश्या ही है और सातवीं में परम कृष्ण लेश्या है। इस तरह नीचे-नीचे अधिक अधिक अशुभ लेश्या होती है। उनका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों का परिणमन भी वहाँ के क्षेत्र की विशेषता के निमित्त से अति दुःख का ही कारण होता है। उनका शरीर भी अत्यंत अशुभ होता है। हुंडक संस्थान के होने से देखने में बड़ा भयंकर लगता है। पहली पृथ्वी के अंतिम पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छः अंगुल होती है। नीचे नीचे प्रत्येक पृथ्वी में दूनी दूनी ऊँचाई होती जाती है। इस तरह सातवें नरक में पाँच सौ धनुष ऊँचाई होती है तथा शीत उष्ण की भयंकर वेदना भी है। पहली से लेकर चौथी पृथ्वी तक सब बिल गर्म ही हैं। पाँचवीं में ऊपर के दो लाख बिल गर्म हैं और नीचे के एक लाख बिल ठंडे हैं। छठी और सातवीं के बिल भयंकर ठंडे ही हैं। ये नारकी विक्रिया भी बुरी से बुरी ही करते हैं॥३॥

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥४॥

अर्थ : इसके सिवा नारकी जीव आपस में ही एक दूसरे को दुःख देते हैं।

विशेषार्थ : जैसे यहाँ कुत्तों में जातिगत वैमनस्य देखा जाता है। वैसे ही नारकी जीव भी कु-अवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही नारकियों को देखकर और उनको अपने दुःख का कारण जानकर दुःखी होते हैं। फिर निकट आने पर परस्पर के देखने से उनका क्रोध भड़क उठता है। और अपनी विक्रिया के द्वारा बनाए गए अस्त्र-शस्त्रों से आपस में मारकाट करने लगते हैं। इस तरह एक-दूसरे के टुकड़े टुकड़े कर डालने पर भी उनका मरण अकाल में नहीं होता॥४॥

दुःख के और भी कारण बतलाते हैं-

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ : संक्लेश परिणाम वाले जो अम्बावरीष जाति के असुर कुमार देव हैं, वे तीसरी पृथ्वी तक जाकर नारकियों को दुःख देते हैं, उन्हें आपस में लड़ाते हैं॥५॥

अब नारकियों की आयु बतलाते हैं-

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ : नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु पहली पृथ्वी में एक सागर, दूसरी में तीन

सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दश सागर, पाँचवीं में सतरह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तेतीस सागर होती है॥६॥

इस तरह अधोलोक का वर्णन किया है। आगे मध्य लोक का वर्णन करते हैं। मध्य लोक को तिर्यग्लोक भी कहते हैं, क्योंकि स्वयंभूरमण समुद्र तक एक-दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक् (आजू-बाजू) रूप से स्थित है। **इसी से मध्य लोक का वर्णन प्रारंभ करते हुए सूत्रकार पहले इसी बात की चर्चा करते हैं-**

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥७॥

अर्थ : मध्य लोक में जम्बूद्वीप और लवण समुद्र वगैरह अनेक द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और उसके बाद पहला समुद्र लवण समुद्र है। लवण समुद्र के बाद दूसरा द्वीप धातकी खंड है। और धातकी खंड के बाद दूसरा समुद्र कालोदधि है। कालोदधि के बाद तीसरा द्वीप पुष्करवर है और उसके बाद तीसरे समुद्र का नाम भी पुष्करवर है। इसके आगे जो द्वीप का नाम है वही उसके बाद के समुद्र का नाम है। सबसे अंतिम द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है॥७॥

आगे इन द्वीप समुद्रों का विस्तार वगैरह बतलाते हैं-

द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ : इन द्वीप और समुद्रों का विस्तार, आगे आगे दूना-दूना होता गया है तथा प्रत्येक द्वीप और समुद्र अपने से पूर्व के द्वीप समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के आकार का है। अर्थात् पहले द्वीप का जितना विस्तार है उससे दूना विस्तार पहले समुद्र का है। उससे दूना विस्तार दूसरे द्वीप का है और उससे दूना विस्तार दूसरे समुद्र का है। इस तरह द्वीप से दूना विस्तार समुद्र का है और समुद्र से दूना विस्तार आगे के द्वीप का है तथा जम्बूद्वीप को लवण समुद्र घेरे हुए है, लवण समुद्र को धातकी खंड द्वीप घेरे हुए है, धातकीखंड को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। इस तरह जम्बूद्वीप के सिवा शेष सब द्वीप और समुद्र चूड़ी के आकार वाले हैं॥८॥

आगे जम्बूद्वीप का आकार वगैरह बतलाते हैं-

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थ : उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्य मंडल की तरह गोल है और उसका विस्तार एक लाख योजन है। उसके बीच में मेरु पर्वत है।

विशेषार्थ : उत्तर कुरु भोगभूमि में एक जम्बूवृक्ष (जामुन का पेड़) है। वह वृक्ष पार्थिव है, हरा भरा वनस्पति कायिक नहीं है। इसी से वह अनादि निधन है। उसी के

कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है॥९॥

आगे जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र बतलाते हैं-

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥१०॥

अर्थ : उस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत, ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

विशेषार्थ : भरत क्षेत्र के उत्तर में हिमवान् पर्वत है पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में लवण समुद्र है। भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व पश्चिम लंबा है तथा पच्चीस योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है। भूमि से दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वत के दक्षिण तथा उत्तर में दो श्रेणियाँ हैं जिनमें विद्याधरों के नगर बसे हुए हैं। वहाँ से और दस योजन जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों और पुन: दो श्रेणियाँ हैं जिनमें व्यन्तर देव बसते हैं। वहाँ से पाँच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत का शिखर तल है, जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं। इस पर्वत में दो गुफाएँ हैं जो आरपार हैं। हिमवान् पर्वत से गिरकर गंगा-सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओं की देहली के नीचे से निकलकर दक्षिण भरत में आती हैं। विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छह खंड हो गए हैं। तीन खंड विजयार्ध के उत्तर में हैं और तीन खंड दक्षिण में हैं। दक्षिण के तीन खंडों के बीच का खंड आर्यखंड कहलाता है। शेष पाँचों म्लेच्छ खंड है। उक्त गुफाओं के द्वारा ही चक्रवर्ती उत्तर के तीन खंडों को जीतने जाता है और लौटकर वापस आता है। इसी से इस पर्वत का नाम 'विजयार्ध' है क्योंकि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्ती की आधी विजय हो जाती है। उत्तर के तीन खंडों के बीच के खंड में वृषभाचल पर्वत है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम खोद देता है।

भरत क्षेत्र की तरह ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमें भी विजयार्ध पर्वत वगैरह है। तथा विजयार्ध पर्वत और रक्ता रक्तोदा नदी के कारण उसके भी छ: खंड हो गए हैं। सब क्षेत्रों के बीच में विदेह क्षेत्र है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वत के मध्य में स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्म ध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके देह के बंधन से सदा छूटते रहते हैं। इसी से उसका 'विदेह' नाम पड़ा है। उस विदेह क्षेत्र के बीच में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा वाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। नील पर्वत से निकलकर सीता नदी पूर्व विदेह के मध्य से होकर बहती है और निषध पर्वत से निकलकर सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इससे इन नदियों के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के भी दो-

दो भाग हो गए हैं। इस तरह विदेह के चार भाग हैं। प्रत्येक भाग में आठ-आठ उपविभाग हैं। यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतंत्र देश है। अतः विदेह क्षेत्र में ८×४=३२ देश हैं, वे सब विदेह कहलाते हैं।

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वी के अंदर उसकी नींव है और निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है। उसके चारों ओर पृथ्वी पर भद्रशाल नाम का वन है। उससे पाँच सौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वत के चारों ओर की कटनी पर दूसरा नंदन वन है। नंदन वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर तीसरा सौमनस वन है। सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है। उसके बीच में चालीस योजन ऊँची चूलिका है और चूलिका के चारों ओर पांडुक वन है। इस वन में चारों दिशाओं में चार शिलाएँ हैं। उन शिलाओं पर पूर्व विदेह पश्चिम विदेह, भरत और ऐरावत क्षेत्र में जन्म लेने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है॥१०॥

आगे इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले छः पर्वतों का कथन करते हैं-

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः॥११॥

अर्थ : उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छः पर्वत हैं जो पूर्व से पश्चिम तक लंबे हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी उनके नाम हैं। वर्ष अर्थात् क्षेत्रों के विभाग को बनाए रखने के कारण उन्हें 'वर्षधर' कहते हैं।

विशेषार्थ : भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच में हिमवान् पर्वत है जो सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्ष के बीच में महाहिमवान् है जो दो सौ योजन ऊँचा है। हरि वर्ष और विदेह के बीच में निषध पर्वत है जो चार सौ योजन ऊँचा है। विदेह और रम्यक क्षेत्र के बीच में नील पर्वत है जो चार सौ योजन ऊँचा है। रम्यक और हैरण्यवत के बीच में रुक्मि है जो दो सौ योजन ऊँचा है। और हैरण्यवत तथा ऐरावत के बीच में शिखरी पर्वत है जो सौ योजन ऊँचा है। ये सभी पर्वत पूरब समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक लंबे हैं॥११॥

आगे इन पर्वतों का रंग बतलाते हैं-

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः॥१२॥

अर्थ : हिमवान् पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीतवर्ण है। महाहिमवान् चाँदी की तरह सफेद है। निषध पर्वत तरुण सूर्य की तरह तपाए हुए सोने के समान रंग वाला है। नील पर्वत मोर के कंठ की तरह नीला है। रुक्मि पर्वत चाँदी की तरह सफेद है

और शिखरी पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह पीत वर्ण है॥१२॥

आगे इन पर्वतों का और भी विशेष वर्णन करते हैं-

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ : इन पर्वतों के पार्श्व भाग (पखवाड़े), अनेक प्रकार की मणियों से खचित है। और मूल, मध्य तथा ऊपर इनका विस्तार समान है। अर्थात् मूल से लेकर ऊपर तक एक सा विस्तार है॥१३॥

आगे इन पर्वतों पर स्थित तालाबों का वर्णन करते हैं-

पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केसरि-महापुण्डरीक-
पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

अर्थ : उन पर्वतों के ऊपर पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ह्रद हैं। अर्थात् हिमवान् पर पद्म, महाहिमवान पर महापद्म, निषध पर तिगिञ्छ, नील पर केसरी, रुक्मि पर महापुण्डरीक और शिखरी पर पुण्डरीक ह्रद है॥१४॥

आगे इन तालाबों का विस्तार बतलाते हैं-

प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

अर्थ : पहला पद्म नाम का ह्रद पूरब पश्चिम एक हजार योजन लंबा है और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है॥१५॥

अब उसकी गहराई बतलाते हैं-

दश-योजनावगाहः ॥१६॥

अर्थ : पद्म ह्रद की गहराई दस योजन है॥१६॥

आगे इसका विशेष चित्रण करते हैं-

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

अर्थ : उस पद्म ह्रद में एक योजन लंबा चौड़ा कमल है।

विशेषार्थ : वह कमल वनस्पतिकाय नहीं है। किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी है। उस कमलाकार पृथ्वी के बीच में दो कोस की कर्णिका है और उस कर्णिका के चारों ओर एक एक कोस की पंखुरियाँ हैं। इससे उसकी लंबाई चौड़ाई एक योजन है॥१७॥

आगे के ह्रदों और कमलों का विस्तार बतलाते हैं-

तद्द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ : आगे के ह्रद और कमल प्रथम ह्रद और कमल से दूने दूने परिमाण वाले हैं। अर्थात् पद्म ह्रद से दूना महापद्म ह्रद है। महापद्म से दूना तिगिञ्छ ह्रद है। इन ह्रदों में जो कमल हैं वे भी दूने-दूने परिमाण वाले हैं॥१८॥

इन कमलों पर निवास करने वाली देवियों का वर्णन करते हैं-

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥१९॥

अर्थ : उन कमलों की कर्णिका पर बने हुए महलों में निवास करने वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ हैं। उनकी एक पल्य की आयु है। और वे सामानिक एवं परिषद् जाति के देवों के साथ रहती हैं। अर्थात् बड़े कमल के आसपास जो और कमलाकार टापू है उन पर बने हुए मकान में सामानिक और परिषद जाति के बीच देव बसते हैं॥१९॥

अब उक्त क्षेत्र में बहने वाली नदियों का हाल बतलाते हैं-

गङ्गा-सिन्धु, रोहिद्रोहितास्या, हरिद्धरिहरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्ण-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदाः-सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अर्थ : उन सात क्षेत्रों के बीच से बहने वाली गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित हरिकांता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं॥२०॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थ : क्रम से एक एक क्षेत्र में दो दो नदियाँ बहती हैं। और उन दो दो नदियों में से पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती है। अर्थात् गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूरब के समुद्र में जा कर मिलती हैं॥२१॥

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थ : दो दो नदियों में से पीछे वाली नदी पश्चिम समुद्र को जाती है। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकांता, सीतोदा, नरकांता, रूप्यकूला और रक्तोदा, ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती हैं।

विशेषार्थ : छह ह्रदों से चौदह नदियाँ निकली हैं। उनमें से पहले पद्मह्रद और छठे

पुण्डरीक ह्रद से तीन तीन नदियाँ निकली हैं। और शेष चार से दो दो नदियाँ निकली हैं। सो पद्महृद के पूर्व द्वार से गंगा नदी,पश्चिम द्वार से सिन्धु नदी और उत्तर द्वार से रोहितास्या नदी निकली है। दूसरे महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से रोहित और उत्तर द्वार से हरिकांता नदी निकली है। तीसरे तिगिञ्छ ह्रद के दक्षिण द्वार से हरित् और उत्तर द्वार से सीतोदा नदी निकली है। चौथे केसरी ह्रद के दक्षिण द्वार से सीता और उत्तर द्वार से नरकांता नदी निकली है। पाँचवें महापुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से सुवर्णकूला, पूर्व द्वार से रक्ता और पश्चिम द्वार से रक्तोदा नदी निकली है॥२२॥

इन नदियों का परिवार बतलाते हैं-

चतुर्दश-नदी-सहस्र परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः॥२३॥

अर्थ : गंगा और सिन्धु नदी चौदह चौदह हजार परिवार नदियों से घिरी हुई है। इस सूत्र में जो 'नदी' शब्द दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि इन नदियों का परिवार आगे आगे दूना दूना होता गया है। अतः रोहित और रोहितास्या की परिवार नदी अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार है। हरित् और हरिकांता की परिवार नदी छप्पन-छप्पन हजार है। सीता और सीतोदा की परिवार नदी एक लाख बारह हजार, एक लाख बारह हजार है॥२३॥

अब भरत क्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं-

भरतः षड्विंशति-पंचयोजन-शत-विस्तारः षड्-चैकोनविंशति-भागा योजनस्य॥२४॥

अर्थ : भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छः भाग प्रमाण है। यह विस्तार दक्षिण से उत्तर तक है॥२४॥

अन्य क्षेत्रों का विस्तार बतलाते हैं-

तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः॥२५॥

अर्थ : आगे के पर्वत और क्षेत्र विदेह क्षेत्र तक भरत क्षेत्र से दूने दूने विस्तार वाले हैं। अर्थात् हिमवान, पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। हिमवान् पर्वत के विस्तार से हैमवत क्षेत्र का विस्तार दूना है। हैमवत क्षेत्र के विस्तार से महाहिमवान् पर्वत का विस्तार दूना है। महाहिमवान् पर्वत से हरिक्षेत्र का विस्तार दूना है। हरि क्षेत्र के विस्तार से निषध पर्वत का विस्तार दूना है और निषध पर्वत से विदेह क्षेत्र का विस्तार दूना है॥२५॥

आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार बतलाते हैं-

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।।२६।।

अर्थ : उत्तर के ऐरावत से लेकर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं, उनका विस्तार वगैरह दक्षिण के भरत आदि क्षेत्रों के समान ही जानना चाहिए। यह नियम दक्षिण भाग का जितना भी वर्णन किया है उस सबके संबंध में लगा लेना चाहिए। अत: उत्तर के ह्रद और कमल आदि का विस्तार वगैरह तथा नदियों का परिवार वगैरह दक्षिण के समान ही जानना चाहिए। सारांश यह है कि भरत और ऐरावत, हिमवान और शिखरी, हैमवत और हैरण्यवत, महाहिमवान् और रुक्मि, हरिवर्ष और रम्यक तथा निषध और नील का विस्तार, इनके ह्रदों और कमलों की लंबाई चौड़ाई वगैरह तथा नदियों के परिवार की संख्या परस्पर में समान है।।२७।।

आगे भरत आदि क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्यों की स्थिति वगैरह का वर्णन करते हैं-

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ, षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-सर्पिणीभ्याम् ।।२७।।

अर्थ : भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह समयों के द्वारा मनुष्यों की आयु, शरीर की ऊँचाई, भोगोपभोग, संपदा वगैरह घटती और बढ़ती रहती है। उत्सर्पिणी में दिनों दिन बढ़ती है, अवसर्पिणी में दिनोंदिन घटती है।

विशेषार्थ : सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह भेद अवसर्पिणी काल के हैं और दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ये छह भेद उत्सर्पिणी काल के हैं। अवसर्पिणी का प्रमाण दस कोड़ा कोड़ी सागर है। इतना ही प्रमाण उत्सर्पिणी काल है। इन दोनों कालों का एक कल्प काल होता है। सुषमा सुषमा का प्रमाण चार कोड़ा कोड़ी सागर है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा उत्तरकुरु भोग भूमि के मनुष्यों के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते दूसरा सुषमा काल आता है वह तीन कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा हरि वर्ष भोगभूमि के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते तीसरा सुषमा-दुषमा काल आताहै। यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा हैमवत क्षेत्र भोग भूमि के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते चौथा दुषमा-सुषमा काल आता है। यह काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान रहती है। फिर क्रम से हानि होते होते पाँचवाँ दुषमाकाल आता है जो इक्कीस हजार वर्ष तक रहता है। (यह इस समय चल रहा है।). इसके बाद छठा दुषमा-दुषमा काल आता है। यह भी इक्कीस

हजार वर्ष रहता है। इस छठे काल के अंत में भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंड में प्रलय काल आता है। इसमें वायु और वर्षा के वेग से पहाड़ तक चूर चूर हो जाते हैं। मनुष्य मर जाते हैं। बहुत से मनुष्य युगल पर्वतों की कन्दराओं में छिपकर अपनी रक्षा कर लेते हैं। विष और आग की वर्षा से एक योजन नीचे तक भूमि चूर्ण हो जाती है। उसके बाद उत्सर्पिणी काल आता है। उसके आरंभ में सात सप्ताह तक सुवृष्टि होती है। उससे पृथ्वी की गर्मी शांत हो जाती है और लता वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं। तब इधर-उधर छिपे हुए मनुष्य युगल अपने अपने स्थानों से निकलकर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह उत्सर्पिणी का प्रथम अति दुषमा काल बीत जाने पर दूसरा दुषमा काल आ जाता है। इस काल के बीस हजार वर्ष बीतने पर जब एक हजार वर्ष शेष रहते हैं तो कुलकर पैदा होते हैं जो मनुष्यों को कुलाचार की तथा भोजनादि बनाने की शिक्षा देते हैं। इसके बाद तीसरा दुषमा-सुषमा काल आता है। इसमें तीर्थंकर वगैरह उत्पन्न होते हैं। इसके बाद उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पाँचवें में मध्यम भोग भूमि और छठे में उत्कृष्ट भोगभूमि रहती है। उत्सर्पिणी काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारंभ हो जाता है। उसके प्रथम काल में उत्कृष्ट भोग भूमि, दूसरे में मध्यम भोग भूमि तथा तीसरे में जघन्य भोग भूमि रहती है। और चौथे से कर्म भूमि प्रारंभ हो जाती है।।२७।।

आगे शेष क्षेत्रों की दशा बतलाते हैं-

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ।।२८।।

अर्थ : भरत और ऐरावत के सिवा अन्य क्षेत्र अवस्थित हैं। उनमें सदा एक सी ही दशा रहती है, हानि वृद्धि नहीं होती।।२८।।

इन क्षेत्रों के मनुष्यों की आयु बतलाते हैं-

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरवकाः ।।२९।।

अर्थ : हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य की है। हरि वर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की आयु दो पल्य की है। और देवकुरु के मनुष्यों की आयु तीन पल्य की है।

विशेषार्थ : इन तीनों क्षेत्रों में सदा भोगभूमि रहती है। भोगभूमि के मनुष्य सदा युवा रहते हैं। उन्हें कोई रोग नहीं होता और न मरते समय कोई वेदना ही होती है। बस पुरुष को जंभाई और स्त्री की छींक आती है और उसी से उनका मरण हो जाता है। मरण होने पर उनका शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। भोगभूमि में न पुण्य होता है और न पाप। हाँ, किन्हीं किन्हीं को सम्यक्त्व अवश्य होता है। मरण होने पर

सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव होते हैं और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में जन्म लेते हैं। वहाँ के पशु भी मरकर देव होते हैं। उनमें परस्पर में ईर्षा द्वेष नहीं होता। सूर्य की गर्मी पृथ्वी तक न आ सकने के कारण वर्षा भी नहीं होती। कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त वस्तुओं से ही मनुष्य अपना जीवन निर्वाह सानंद करते हैं। वहाँ न कोई स्वामी है और न सेवक, न कोई राजा है और न प्रजा। प्राकृतिक साम्यवाद का सुख सभी भोगते हैं॥२९॥

अब उत्तर जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की स्थिति बतलाते हैं-

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थ : दक्षिण जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जैसी स्थिति है वैसी ही उत्तर जम्बूद्वीप के क्षेत्रों की जाननी चाहिए। अर्थात हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। रम्यक क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। और उत्तर कुरु के मनुष्यों की स्थिति देवकुरू के मनुष्यों के समान है॥३०॥

आगे विदेह क्षेत्र की स्थिति बतलाते हैं-

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

अर्थ : पाँचों मेरु संबंधी पाँच विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

विशेषार्थ : पाँचों विदेहों में सदा सुषमा दुषमा काल की सी दशा रहती है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई अधिक से अधिक पाँच सौ धनुष होती है। प्रतिदिन भोजन करते हैं। उत्कृष्ट आयु एक कोटी पूर्व की है। और जघन्य आयु अन्तमुहूर्त की है। पूर्व का प्रमाण इस प्रकार कहा है चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व होता है। अतः चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० संख्या आती है, इतने वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक कोटिपूर्व की आयु कर्मभूमि में होती है॥३१॥

आगे दूसरी तरह से भरत क्षेत्र का विस्तार बतलाते हैं-

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ : जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। उसमें एक सौ नब्बे का भाग देने पर एक भाग प्रमाण भरत क्षेत्र का विस्तार है। जो पहले बतलाया है।

विशेषार्थ : पहले भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही ६/१९ योजन बतलाया है। सो जम्बूद्वीप के एक लाख योजन विस्तार का एक सौ नब्बेवाँ भाग है। क्योंकि जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों और छह पर्वतों में बँटा हुआ है। उसमें भरत का एक भाग,

हिमवान् के दो भाग, हैमवत के चार भाग, महाहिमवान् के आठ भाग, हरिवर्ष के सोलह भाग, निषध पर्वत के बत्तीस भाग, विदेह के चौसठ भाग, नील पर्वत के बत्तीस भाग, रम्यक के सोलह भाग, रुक्मि पर्वत के आठ भाग, हैरण्यवत क्षेत्र के चार भाग, शिखरी पर्वत के दो भाग और ऐरावत का एक भाग है। इन सब भागों का जोड़ १९० होता है। इस तरह जम्बूद्वीप का वर्णन समाप्त हुआ। जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र है। उसका विस्तार सब ओर दो लाख योजन है। लवण समुद्र को घेरे हुए धातकी खंड नाम का द्वीप है। उसका विस्तार सब ओर चार लाख योजन है।।३२।।

आगे धातकी खंड द्वीप की रचना बतलाते हैं-

द्विर्धातकीखण्डे।।३३।।

अर्थ : धातकी खंड द्वीप में भरत आदि क्षेत्र दो दो हैं।

विशेषार्थ : धातकीखंड की दक्षिण दिशा और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत हैं। वे दोनों पर्वत इषु यानी बाण की तरह सीधे और दक्षिण से उत्तर तक लंबे हैं। उनकी लंबाई द्वीप के बराबार यानि चार लाख योजन है। इसी से वे एक और लवण समुद्र को छूते हैं। तो दूसरी ओर कालोदधि समुद्र को छूते हैं। उनके कारण धातकी खंड के दो भाग हो गए हैं। एक पूर्व भाग, दूसरा पश्चिम भाग। दोनों भागों के बीच में एक एक मेरु पर्वत है और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान् आदि पर्वत हैं। इस तरह वहाँ दो भरत, दो हिमवान् आदि हैं। उनकी रचना गाड़ी के पहिए की तरह है। जैसे गाड़ी के पहिए में जो डंडे लगे रहते हैं जिन्हें अर कहते हैं, उनके समान तो हिमवान आदि पर्वत हैं। वे पर्वत सर्वत्र समान विस्तार वाले हैं। और अरों के बीच में खाली स्थान होता है, उसके समान भरत आदि क्षेत्र हैं। क्षेत्र कालोदधि के पास में अधिक चौड़े हैं और लवण समुद्र के पास में कम चौड़े हैं। जम्बूद्वीप जिस स्थान पर जामुन का पार्थिव वृक्ष है धातकी खंड में उसी स्थान पर धातकी (धतूरा) का एक विशाल पार्थिव वृक्ष है। उसके कारण द्वीप का नाम धातकी खंड पड़ा है। धातकी खंड को घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। उसका विस्तार आठ लाख योजन है। और कालोदधि को घेरे हुए पुष्करवर द्वीप हैं। उसका विस्तार सोलह लाख योजन है।।३३।।

आगे पुष्करवर द्वीप का वर्णन करते हैं-

पुष्करार्धे च।।३४।।

अर्थ : आधे पुष्करवर द्वीप में भी भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान् आदि पर्वत दो दो हैं।

विशेषार्थ : पुष्करवर द्वीप के बीच में चूड़ी के आकार का एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। उसके कारण द्वीप के दो भाग हो गए हैं। इसी से आधे पुष्करवर द्वीप में

ही भरत आदि की रचना बतलाई है। पुष्करार्ध में भी दक्षिण और उत्तर दिशा में दो इष्वाकार पर्वत हैं जो एक ओर कालोदधि को छूते हैं तो दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं। इससे द्वीप के दो भाग हो गए हैं। एक पूर्व पुष्करार्ध और दूसरा पश्चिम पुष्करार्ध। दोनों भागों के बीच में एक एक मेरु पर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र व पर्वत हैं। जहाँ जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष हैं, वहीं पुष्करार्ध में परिवार सहित पुष्कर वृक्ष है। उसी से द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप पड़ा है।।३४।।

अब बतलाते हैं कि भरत आदि क्षेत्रों की रचना आधे ही पुष्कर द्वीप में क्यों है? समस्त पुष्कर द्वीप में क्यों नहीं है?-

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।।३५।।

अर्थ : मानुषोत्तर पर्वत से पहले ही मनुष्य पाए जाते हैं। अर्थात जम्बूद्वीप, धातकीखंड और आधे पुष्कर द्वीप पर्यन्त ही मनुष्यों का आवास है। इन अढ़ाई द्वीपों से बाहर कोई भी ऋद्धिधारी या विद्याधर मनुष्य तक नहीं जा सकता। इसी से मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के द्वीपों में क्षेत्र वगैरह की रचना भी नहीं पाई जाती है।।३५।।

आगे मनुष्यों के दो भेद बतलाते हैं-

आर्या म्लेच्छाश्च ।।३६।।

अर्थ : मनुष्य दो प्रकार के हैं आर्य और म्लेच्छ।

विशेषार्थ : आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के हैं। एक ऋद्धिधारी और दूसरे बिना ऋद्धि वाले। जो आठ प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि के धारी होते हैं उन्हें ऋद्धि प्राप्त आर्य कहते हैं। और जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे बिना ऋद्धि वाले आर्य कहलाते हैं। बिना ऋद्धि वाले आर्य पाँच प्रकार के होते हैं क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य और दर्शन आर्य। काशी कोशल आदि आर्य क्षेत्रों में जन्म लेने वाले मनुष्य क्षेत्र आर्य हैं। इक्ष्वाकु, भोज आदि वंशों में जन्म लेने वाले मनुष्य जाति आर्य हैं। कर्म आर्य तीन प्रकार के होते हैं-सावद्य कर्म आर्य, अल्प सावद्य कर्म आर्य और असावद्य कर्म आर्य। सावद्य कर्म आर्य छह प्रकार के होते हैं। जो तलवार आदि अस्त्र शस्त्रों के द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि की आजीविका करते हैं वे असिकर्म आर्य हैं। जो खेती के द्वारा आजीविका करते हैं वे कृषिकर्म आर्य हैं। जो विविध कलाओं में प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका करते हैं वे विद्याकर्म आर्य हैं। धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह शिल्प कर्म आर्य हैं। वणिज् व्यापार करने वाले वणिक् कर्म आर्य हैं। ये छहों सावद्य कर्मार्य हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं वे अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं और पूर्ण संयमी साधु असावद्य कर्मार्य होते हैं। चारित्र आर्य दो प्रकार के होते हैं- एक, जो बिना उपदेश के स्वयं ही चारित्र का पालन करते हैं और दूसरे जो परके उपदेश

से चारित्र का पालन करते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं। ऋद्धि प्राप्त आर्यों के भी आठ प्रकार की ऋद्धियों के अवान्तर भेदों की अपेक्षा से बहुत से भेद हैं जो विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखे हैं।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं-अन्तर्द्वीपज और कर्म भूमिज। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र के भीतर जो छयानवें द्वीप हैं उनके वासी मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार विहार सभी असंस्कृत होता है तथा म्लेच्छ खंडों के अधिवासी मनुष्य कर्म भूमिज म्लेच्छ कहे जाते हैं। आर्य खंड में भी जो भील आदि जंगली जातियाँ बसती हैं वे भी म्लेच्छ ही हैं॥३६॥

अब कर्मभूमियाँ बतलाते हैं-

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ : पाँचों मेरु संबंधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरु के सिवा शेष पाँच विदेह, ये पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं। और पाँचों मेरु संबंधी पाँच हैमवत पाँच हरिवर्ष, पाँच हैरण्यवत, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु, ये तीस भोग भूमियाँ हैं। इनमें दस उत्कृष्ट भोगभूमि है, दस मध्यम है और दस जघन्य है। इनमें दस प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त भोगों का ही प्राधान्य होने से इन्हें भोगभूमि कहते हैं तथा भरतादिक पंद्रह क्षेत्रों में बड़े से बड़ा पापकर्म और बड़े से बड़ा पुण्य कर्म अर्जित किया जा सकता है जिससे जीव मरकर सातवें नरक में और सर्वार्थ सिद्धि में भी जा सकता है। तथा इन कर्मों में षट् कर्मों के द्वारा आजीविका की जाती है। इसलिए कर्म की प्रधानता होने से इन्हें कर्मभूमि कहते हैं॥३७॥

आगे मनुष्यों की आयु बतलाते हैं-

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

अर्थ : मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

विशेषार्थ : प्रमाण दो प्रकार का होता है-एक संख्या रूप, दूसरा उपमारूप जिसका आधार एक, दो आदि, संख्या होती है उसे संख्या प्रमाण कहते हैं। और जो संख्या के द्वारा न गिना जाकर किसी उपमा के द्वारा आँका जाता है उसे उपमा प्रमाण कहते हैं। उसी का एक भेद पल्य है। पल्य गड्ढे को कहते हैं। उसके तीन भेद हैं-व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धापल्य। एक योजन लंबा-चौड़ा और एक योजन गहरा गोल गड्ढा खोदो। एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए भेड़ के बालों के अग्रभागों को कैंची से इतना बारीक काटो कि फिर उन्हें काट सकना संभव न हो। उन बाल के टुकड़ों से उस गड्ढे को खूब ठोककर मुँह तक भर दो। उसे व्यवहार पल्य कहते हैं। इस व्यवहार पल्य के रोमों में से सौ सौ वर्ष के बाद एक एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा

रोमों से खाली हो जाए, उतने काल को व्यवहार पल्योपम काल कहते हैं। व्यवहार पल्य के रोमों में से प्रत्येक रोम के बुद्धि के द्वारा इतने टुकड़े करो जितने असंख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं और फिर उन रोमों से एक योजन लंबे चौड़े और एक योजन गहरे गड्ढे को भर दो। उसे उद्धार पल्य कहते हैं। उनमें से प्रति समय एक एक रोम के निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा रोमों से शून्य हो जाए उतने काल को उद्धार पल्योपम कहते हैं। उद्धार पल्य के रोमों में से प्रत्येक रोम के कल्पना के द्वारा पुनः इतने टुकड़े करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं। और उन रोमों से पुनः उक्त विस्तार वाले गड्ढे को भर दो। उसे अद्धा पल्य कहते हैं। उस अद्धा पल्य के रोमों में से प्रति समय एक एक रोम निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा खाली हो उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। इन तीन पल्यों में से पहला व्यवहार पल्य तो केवल दो पल्यों के निर्माण का मूल है, उसी के आधार पर उद्धार पल्य और अद्धा पल्य बनते हैं। इसी से उसे व्यवहार पल्य नाम दिया गया है। उद्धार पल्य के रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या जानी जाती है। और अद्धा पल्य के द्वारा नारकियों की, तिर्यञ्चों की, देवों और मनुष्यों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है। इसी से अद्धापल्य कहते हैं, क्योंकि 'अद्धा' नाम काल का है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्य का एक अद्धा सागर होता है। और दस अद्धा सागर का एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल होता है।।३८।।

अब तिर्यञ्चों की स्थिति बतलाते हैं-

तिर्यग्योनिजानां च।।३९।।

अर्थ : तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

विशेषार्थ : तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं-एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रियों में शुद्ध पृथिवीकायिक जीवों की आयु बारह हजार वर्ष होती है। खर पृथिवी काय की आयु बाईस हजार वर्ष होती है। जल कायिक जीवों की आयु सात हजार वर्ष, वायु कायिक की तीन हजार वर्ष और वनस्पति कायिक की दस हजार वर्ष उत्कृष्ट आयु होती है। अग्निकायिक की आयु तीन दिन रात होती है। विकलेन्द्रियों में, दो इंद्रियों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तेइन्द्रियों की उनचास, रात दिन और चौइन्द्रियों की छह मास होती है। पञ्चन्द्रियों में जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि, गोधा नकुल वगैरह की नौ पूर्वाङ्ग, सर्पों की बयालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष और चौपायों की तीन पल्य होती है । तथा सभी की जघन्य आयु एक अन्तमुहूर्त की होती है।३९।।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अब देवों का वर्णन करते हैं-

देवाश्चतुर्णिकायाः ।।१।।

अर्थ : निकाय समूह को कहते हैं। देवों के चार निकाय यानी समूह हैं-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।।११।।

देवों की लेश्या बतलाते हैं-

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।।२।।

अर्थ : भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीनों निकायों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।।२।।

इन निकायों के अवान्तर भेद बदलाते हैं-

दशाष्ट-पञ्च-द्वादशविकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ।।३।।

अर्थ : भवनवासी देवों के दस भेद हैं, व्यन्तरों के आठ भेद हैं, ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं और वैमानिक देवों में से जो कल्पोपन्न अर्थात् सोलह स्वर्गों के वासी देव हैं, उनके बारह भेद हैं।।३।।

देवों के विषयों में और भी कहते हैं-

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष-लोकपाला-नीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः ।।४।।

अर्थ : देवों की प्रत्येक निकाय में इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस दस भेद होते हैं।

विशेषार्थ : अन्य देवों में न पाई जाने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों द्वारा जो परम ऐश्वर्य को भोगता है, देवों के उस स्वामी को इंद्र कहते हैं। जिनकी आयु, शक्ति, परिवार तथा भोगोपभोग वगैरह इंद्र के समान ही होते हैं, किन्तु जो आज्ञा और ऐश्वर्य से हीन होते हैं, उन्हें सामानिक कहते हैं। ये पिता, गुरु या उपाध्याय के समान माने जाते हैं। मंत्री और पुरोहित के समान जो देव होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस होती है इसी से इन्हें 'त्रायस्त्रिंश' कहा जाता है। इंद्र की सभा के सदस्य देवों को पारिषद् कहते हैं। इंद्र की सभा में जो देव शस्त्र लिए इंद्र के पीछे खड़े होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। यद्यपि इंद्र को किसी शत्रु का भय नहीं है फिर भी यह ऐश्वर्य का द्योतक है। कोतवाल के तुल्य देवों को लोकपाल कहते हैं। पैदल, अश्व,

वृषभ, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्तकी इस सात प्रकार की सेना के देव अनीक कहे जाते हैं। पुरवासी या देशवासी जनता के समान देवों को प्रकीर्णक (प्रजाजन) कहते हैं। हाथी, घोड़ा, सवारी वगैरह बनकर जो दे व दास के समान सेवा करते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। चाण्डाल की तरह दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये दस भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं।।४।।

उक्त कथन में थोड़ा अपवाद है, जो बतलाते हैं-

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।।५।।

अर्थ : व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं।।५।।

अब इंद्र का नियम बतलाते हैं-

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।६।।

अर्थ : पहले की दो निकायों में दो दो इंद्र होते हैं। अर्थात दस प्रकार के भवनवासियों के बीस इंद्र हैं और आठ प्रकार के व्यंतरों के सोलह इंद्र हैं। इस तरह प्रत्येक निकाय के प्रत्येक भेद में दो दो इंद्र होते हैं।।६।।

देवों के काम सेवन का ढंग बतलाते हैं-

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।।७।।

अर्थ : मैथुन सेवन का नाम प्रवीचार है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्य की तरह शरीर से मैथुन सेवन करते हैं।।७।।

शेष स्वर्गों के देवों के विषय में कहते हैं-

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ।।८।।

अर्थ : शेष स्वर्गों के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से ही मैथुन सेवन करते हैं। अर्थात सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के आलिंगन मात्र से ही परम संतुष्ट हो जाते हैं। यही बात देवियों की भी है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के सुंदर रूप, शृंगार, विलास वगैरह के देखने मात्र से ही संतुष्ट हो जाते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों के मधुर गीत, कोमल हास्य, मीठे वचन तथा आभूषणों का शब्द सुनने से ही तृप्त हो जाते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव अपनी अपनी देवियों का मन में चिन्तन कर लेने से ही शांत हो जाते हैं।।८।।

सोलह स्वर्गों से ऊपर के देवों में किस प्रकार का सुख है, यह बतलाते हैं-

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

अर्थ : यहाँ 'पर' शब्द से समस्त कल्पातीत देवों का ग्रहण किया गया है। अतः अच्युत स्वर्ग से ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में रहने वाले अहमिन्द्र देवों में काम सेवन नहीं है क्योंकि वहाँ देवाङ्गनाएँ नहीं होतीं। अतः काम भोगरूप वेदना के न होने से ऊपर के देव परम सुखी हैं॥९॥

अब भवनवासी देवों के दस भेद बतलाते हैं-

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१०॥

अर्थ : जो देव भवनों में निवास करते हैं, उन्हें भवनवासी कहते हैं। भवनवासी देव दस प्रकार के होते हैं-असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार और दिक्कुमार।

विशेषार्थ : यद्यपि सभी देवों की जन्म से लेकर मरण तक एक सी अवस्था रहती है। अतः अवस्था से सभी कुमार हैं। किन्तु भवनवासी देवों की वेशभूषा, अस्त्र-शस्त्र, बातचीत, खेलना, कूदना वगैरह कुमारों की तरह ही होता है इसलिए इनको कुमार कहते हैं। उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के पङ्क बहुलभाग में असुरकुमारों के भवन बने हुए हैं, और उसी के खर भाग में बाकी के नौ कुमारों के भवन हैं। उन्हीं में ये रहते हैं। इसी से इन्हें भवनवासी कहते हैं॥१०॥

अब व्यन्तर देवों के आठ भेद बतलाते हैं -

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गंधर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥११॥

अर्थ : अनेक स्थानों पर जिनका निवास है उन देवों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरों के आठ भेद हैं। किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विशेषार्थ : वैसे तो उक्त रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में राक्षसों के सिवा शेष सात प्रकार के व्यन्तरों का आवास है और पंक बहुल भाग में राक्षसों का आवास है किन्तु पृथ्वी के ऊपर अनेक द्वीप, पर्वत, समुद्र, गाँव, नगर, देवालय, चौराहे वगैरह में भी इनका स्थान बतलाया है। इसी से विविध स्थानों के निवासी होने के कारण उन्हें व्यन्तर कहते हैं॥११॥

अब ज्योतिष्क देवों के भेद कहते हैं-

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थ : ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं-सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे। चूँकि ये सब चमकीले होते हैं इसलिए इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

विशेषार्थ : सूर्य और चंद्रमा का प्राधान्य बतलाने के लिए उन्हें सूत्र में अलग से रखा गया है। क्योंकि ग्रह वगैरह से उनका प्रभाव वगैरह अधिक है। इनमें चंद्रमा इंद्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। ये सब ज्योतिष्क देव मध्य लोक में रहते हैं। धरातल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारे विचरण करते हैं। वे सब ज्योतिष्क देवों के नीचे हैं। तारों से दस योजन ऊपर सूर्य का विमान है। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चंद्रमा है। चंद्रमा से चार योजन ऊपर नक्षत्र है। नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध का विमान है। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र का विमान है। शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति है। बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल है और मंगल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर है। इस तरह एक सौ दस योजन की मोटाई में सब ज्योतिषी देव रहते हैं। तथा तिर्यक् रूप से ये धनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं॥१२॥

ज्योतिष्क देवों का गमन बतलाते हैं-

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके॥१३॥

अर्थ : ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से सदा गमन करते रहते हैं।

विशेषार्थ : अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्य लोक कहते हैं। मनुष्य लोक के ज्योतिषी देव मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर उसके चारों ओर सदा घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीप में दो, लवण समुद्र में चार, धातकी खंड में बारह, कालोदधि में बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर चंद्रमा हैं। और एक चंद्रमा के परिवार में एक सूर्य, अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं॥१३॥

ज्योतिषी देवों के गमन से ही काल का व्यवहार होता है यह बतलाते हैं-

तत्कृतः कालविभागः॥१४॥

अर्थ : उन ज्योतिषी देवों के गमन से काल का विभाग होता है।

विशेषार्थ : काल दो प्रकार का है- व्यवहार काल और निश्चय काल। सेकंड, मिनट, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वगैरह को व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल सूर्य चंद्रमा की गति से ही जाना जाता है तथा इसी से निश्चय काल का बोध होता है, जिसका वर्णन आगे पाँचवें अध्याय में किया है॥१४॥

मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति बतलाते हैं-

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

अर्थ : मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव अवस्थित हैं- गमन नहीं करते हैं।

शंका : मनुष्य लोक में ज्योतिषी देवों का नित्य गमन बतलाने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि बाहर के ज्योतिषी देव गमन नहीं करते। फिर इस बात को बतलाने के लिए 'बहिरवस्थिताः' सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समाधान : यह सूत्र व्यर्थ नहीं है क्योंकि मनुष्य लोक से बाहर ज्योतिषी देवों का अस्तित्व ही अभी सिद्ध नहीं है। अतः मनुष्य लोक से बाहर भी ज्योतिषी देव हैं और वे चलते नहीं हैं। ये दोनों बातें बतलाने के लिए ही 'बहिरवस्थिताः' सूत्र कहा है॥१५॥

तीन निकायों का वर्णन करके अब चौथी निकाय का वर्णन करते हैं-

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थ : जिनमें रहने वाले जीव विशेष रूप से पुण्यशाली माने जाते हैं उन्हें विमान कहते हैं। और विमानों में जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं।

विशेषार्थ : यह सूत्र अधिकार सूचक है। यह बतलाता है कि आगे वैमानिक देवों का वर्णन किया जाएगा। विमान तीन प्रकार के होते हैं- इंद्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक। जो विमान इंद्र की तरह अन्य विमानों के बीच में रहता है उसे इंद्रक विमान कहते हैं। उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं। और विदिशाओं में जहाँ-तहाँ बिखरे फूलों की तरह जो विमान होते हैं उन्हें पुष्प प्रकीर्णक विमान कहते हैं॥१६॥

आगे वैमानिक देवों के भेद कहते हैं-

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

अर्थ : वैमानिक देवों के दो भेद हैं- कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जहाँ इंद्र आदि की कल्पना होती है उन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। और जहाँ इंद्र आदि की कल्पना नहीं होती उन ग्रैवेयक वगैरह को कल्पातीत कहते हैं॥१७॥

अब इनकी स्थिति बतलाते हैं-

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ : ये कल्प आदि ऊपर ऊपर हैं॥१८॥

अब उन कल्प आदि का नाम बतलाते हैं जिनमें वैमानिक देव रहते हैं-

सौधर्मेशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानत-

प्राणतयोरारणाच्युतयो-र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ : सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, इन सोलह स्वर्गों में, इनके ऊपर नौ ग्रैवेयकों में, नौ अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

विशेषार्थ : भूमितल से निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊपर जाने पर सौधर्म और ऐशान कल्प आरंभ होता है। उसके प्रथमइंद्रक विमान का नाम ऋतु है। वह ऋतु विमान सुमेरु पर्वत के ठीक ऊपर एक बाल के अग्र भाग का अन्तराल देकर ठहरा हुआ है। उसका विस्तार ढाई द्वीप के बराबर पैंतालीस लाख योजन है। उसके चारों दिशाओं में बासठ-बासठ पंक्तिबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में बहुत से प्रकीर्णक विमान हैं। उसके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर दूसरा पटल है। उसमें भी बीच में एक इंद्रक विमान है। उसकी चारों दिशाओं में इकसठ-इकसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। इस तरह असंख्यात असंख्यात योजन का अन्तराल देकर डेढ़ राजु की ऊँचाई में इकतीस पटल हैं। इन इकतीस पटलों के पूरब, पश्चिम और दक्षिण दिशा के श्रेणीबद्ध विमान तथा इंद्रक और पूरब दक्षिण दिशा के और दक्षिण-पश्चिम दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच में जो प्रकीर्णक हैं वे सौधर्म स्वर्ग में गिने जाते हैं। और उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा पश्चिम-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा के श्रेणीबद्धों के बीच के प्रकीर्णक ऐशान स्वर्ग में गिने जाते हैं। इकतीसवें पटल से ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल देकर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प प्रारंभ हो जाते हैं। उनके सात पटल हैं जो डेढ़ राजु की ऊँचाई में हैं। यहाँ भी तीन दिशाओं की गिनती सानत्कुमार स्वर्ग में और उत्तर दिशा की गिनती माहेन्द्र कल्प में की जाती है। इसी तरह ऊपर के छह कल्पयुगलों में भी समझ लेना चाहिए। ये युगल ऊपर-ऊपर आधे-आधे राजु की ऊँचाई में हैं। इस तरह छह राजु की ऊँचाई में सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर एक राजु की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऊपर-ऊपर हैं। इन सबके मिलाकर कुल त्रेसठ पटल हैं।

सोलह स्वर्गों के बारह इंद्र हैं- प्रारंभ के और अंत के चार स्वर्गों में तो प्रत्येक में एक-एक इंद्र है और बीच के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्गों का एक-एक इंद्र है। इस तरह सब इंद्र बारह हैं। इनमें सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत और आरण ये छह दक्षिणेन्द्र हैं। और ऐशान, माहेन्द्र, लान्तव, शतार, प्राणत और अच्युत ये छह उत्तरेन्द्र हैं॥१९॥

वैमानिक देवों में परस्पर में क्या विशेषता है यह बतलाते हैं-

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थ : वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इंद्रियों का विषय तथा अवधि ज्ञान का विषय, इन बातों में ऊपर-ऊपर अधिक हैं।

विशेषार्थ : आयु कर्म के उदय से उसी भव में रहना स्थिति है। दूसरों का बुरा भला करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। साता वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों को भोगना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभूषणों वगैरह की चमक को द्युति कहते हैं। लेश्या की निर्मलता को लेश्या विशुद्धि कहते हैं। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक कल्प के प्रत्येक पटल के वैमानिक देव इन बातों में अपने नीचे के देवों से अधिक अधिक हैं। तथा उनकी इन्द्रियों का और अवधि ज्ञान का विषय भी ऊपर ऊपर अधिक है॥२०॥

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ : तथा वैमानिक देव गति, शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान में ऊपर ऊपर हीन हैं।

विशेषार्थ : जो जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है उसे गति यानी गमन कहते हैं। लोभ कषाय के उदय से विषयों में जो ममत्व होता है उसका नाम परिग्रह है। मान कषाय से उत्पन्न होने वाले अहंकार का नाम अभिमान है। यद्यपि ऊपर ऊपर के देवों में गमन करने की शक्ति अधिक अधिक है परंतु देशान्तर में जाकर क्रीड़ा वगैरह करने की उत्कट लालसा नहीं है इसलिए ऊपर ऊपर के देवों में देशान्तर गमन कम कम पाया जाता है। शरीर की ऊँचाई भी ऊपर ऊपर घटती गई है। सौधर्म ऐशान के देवों का शरीर सात हाथ ऊँचा है। सानत्कुमार माहेन्द्र में छः हाथ ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ में पाँच हाथ ऊँचा है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में चार हाथ ऊँचा है। आनत प्राणत में साढ़े तीन हाथ और आरण अच्युत में तीन हाथ ऊँचा है। अधो ग्रैवेयकों में अढ़ाई हाथ, मध्य ग्रैवेयकों में दो हाथ और ऊपरिम ग्रैवेयकों में तथा नौ अनुदिशों में डेढ़ हाथ ऊँचा है और पाँच अनुत्तरों में एक हाथ ऊँचा शरीर है। विमान वगैरह परिग्रह भी ऊपर ऊपर कम है। कषाय की मन्दता रहने से ऊपर ऊपर अभिमान भी कम है; क्योंकि जिनकी कषाय मंद होती है वे ही जीव ऊपर ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है- असैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच अपने शुभ परिणामों से पुण्य कर्म का बंध करके भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। सैनी पर्याप्त कर्मभूमियाँ तिर्यंच आदि मिथ्यादृष्टि या सासादन

सम्यग्दृष्टि दोनों भवनत्रिक में जन्म लेते हैं और यदि सम्यग्दृष्टि हों तो पहले या दूसरे स्वर्ग में जन्म लेते हैं। कर्मभूमियाँ मनुष्य यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हों तो भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक जन्म ले सकते हैं। किंतु जो द्रव्य से जिनलिंगी होते हैं वे ही मनुष्य ग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा अभव्य मिथ्यादृष्टि भी जिनलिंग धारण करके तप के प्रभाव से उपरिम ग्रैवेयक तक मरकर जा सकता है। परिव्राजक तापसी मरकर पाँचवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। आजीवक सम्प्रदाय के साधु बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर अन्य लिंग वाले साधु उत्पन्न नहीं होते। निर्ग्रन्थ लिंग के धारक यदि द्रव्य लिंगी हों तो उपरिम ग्रैवेयक तक और भावलिंगी हों तो सर्वार्थ सिद्धि तक जन्म ले सकते हैं। तथा श्रावक पहले से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक ही जन्म ले सकता है। इस तरह जैसी जैसी कषाय की मंदता होती है उसी के अनुसार ऊपर ऊपर के कल्पों में जन्म होता है। इसी से ऊपर के देव मंद कषायी होते हैं॥२१॥

अब वैमानिक देवों की लेश्या बतलाते हैं-

पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु॥२२॥

अर्थ : सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में पद्म लेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार में पद्म और शुक्ल लेश्या है। शेष आनत आदि कल्पों में शुक्ल लेश्या है। उनमें भी अनुदिश और अनुत्तरों में परम शुक्ल लेश्या है॥२२॥

कल्प संज्ञा किसकी है यह बतलाते हैं-

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः॥२३॥

अर्थ : सौधर्म से लेकर ग्रैवेयक से पहले अर्थात् सोलहवें स्वर्ग तक कल्प संज्ञा है; क्योंकि जिनमें इंद्र वगैरह की कल्पना पाई जाती है उन्हीं की कल्प संज्ञा है। अतः नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर कल्पातीत हैं; क्योंकि अहमिन्द्र होने से उनमें इंद्र आदि की कल्पना नहीं है॥२३॥

अब लौकान्तिक देवों का कथन करते हैं-

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः॥२४॥

अर्थ : ब्रह्मलोक नाम के पाँचवें स्वर्ग में रहने वाले देव लौकान्तिक हैं। उनका लौकान्तिक नाम सार्थक है क्योंकि लोक यानी ब्रह्मलोक, उसके अंत में जो रहते हैं वे लौकान्तिक हैं। अभिप्राय यह है कि जिन विमानों में लौकान्तिक रहते हैं वे विमान

ब्रह्मलोक के अंत में हैं अथवा लोक यानी संसार। उसका अंत जिनके आ गया है, वे लौकान्तिक देव हैं; क्योंकि लौकान्तिक देव मरकर और एक जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥२४॥

लौकान्तिक देवों के भेद कहते हैं-

सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता-व्याबाधारिष्टाश्च॥२५॥

अर्थ : सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव हैं, जो ब्रह्मलोक स्वर्ग की पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओं में क्रम से रहते हैं। ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इंद्र के अधीन नहीं हैं। सब समान हैं। इनमें कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है। विषयों से विरक्त हैं इसी से इन्हें देवर्षि कहते हैं। अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। ये चौदह पूर्व के पाठी होते हैं और जब तीर्थंकरों को वैराग्य होता है तो उस समय उन्हें प्रतिबोधन करने के उद्देश्य से उनके पास जाते हैं॥२५॥

जो देव मनुष्य के दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं उन्हें बतलाते हैं-

विजयादिषु द्विचरमाः॥२६॥

अर्थ : यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है। अतः जो देव अहमिन्द्र होने के साथ-साथ जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं उनका यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया है। इसलिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र देव मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चय कर मनुष्य होते हैं। फिर संयमधारण करके पुनः विजय आदि में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चय कर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस तरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं; क्योंकि मनुष्य भव से ही मोक्ष मिलता है इसलिए मनुष्य भव को चरम देह कहते हैं। और जो दो बार चरम देह को धारक करते हैं वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं।

विशेषार्थ : यहाँ इतना विशेष जानना कि अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहाँ अधिक से अधिक दो भव बतलाए हैं। इसी से सर्वार्थ सिद्धि का ग्रहण यहाँ नहीं किया गया; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव अत्यंत उत्कृष्ट होते हैं। इसी से उनके विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है। वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं। त्रिलोकसार में लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोक पाल, इन्द्राणि शचि, ये सब एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष जाते हैं॥२६॥

तीन गतियों के जीवों का वर्णन करके तिर्यंचों की पहचान बतलाते हैं-

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।।२७।।

अर्थ : उपपाद जन्म वाले देव नारकी और मनुष्यों के सिवाय बाकी जो संसारी जीव हैं वे सब तिर्यंच हैं। अतः एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यंच ही हैं। वे समस्त लोक में पाए जाते हैं। इसी से तिर्यंचों का कोई अलग लोक नहीं बतलाया है।।२७।।

अब देवों की आयु बतलाते हुए प्रथम ही भवनवासी देवों की आयु बतलाते हैं-

स्थितिरसुरनाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ।।२८।।

अर्थ : असुर कुमारों की आयु एक सागर है। नाग कुमारों की तीन पल्य है। सुपर्ण कुमारों की आयु अढ़ाई पल्य है। द्वीप कुमारों की आयु दो पल्य है और बाकी के छहों कुमारों की आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है। यह इनकी उत्कृष्ट आयु है।।२८।।

अब सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु बतलाते हैं-

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके।।२९।।

अर्थ : सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

विशेषार्थ : वैसे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में दो सागर की ही उत्कृष्ट आयु है किंतु घातायुष्क सम्यग्दृष्टि के दो सागर से करीब आधा सागर आयु अधिक होती है। आशय यह है कि जो मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्यग्दृष्टि विशुद्ध परिणामों से ऊपर के स्वर्गों की आयु को बाँधकर पीछे संक्लेश परिणाम से आयु का घात कर लेता है उसे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य ने दसवें स्वर्ग की आयु बाँधी। पीछे उसके संक्लेश परिणाम हो गए। अतः वह बँधी हुई आयु को घटाकर दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो उसके दूसरे देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर के अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर आयु अधिक होती है। ऐसे घातायुष्क जीव बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं। अतः कुछ अधिक आयु भी वहीं तक बतलाई है आगे नहीं बतलाई।।२९।।

क्रमशः आगे के स्वर्गों में आयु बतलाते हैं-

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त।।३०।।

अर्थ : सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से अधिक है।।३०।।

त्रिसप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पंचदशभिरधिकानि तु।।३१।।

अर्थ : सात सागर में क्रम से तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पंद्रह जोड़ देने से

आगे के छह कल्प युगलों में देवों की उत्कृट आयु होती है तथा यहाँ जो 'तु' शब्द दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि अधिक आयु की अनुवृत्ति बारहवें स्वर्ग तक ही लेना चाहिए, आगे नहीं। अतः यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दश सागर उत्कृष्ट आयु है। लान्तव और कापिष्ट में कुछ अधिक चौदह सागर उत्कृष्ट आयु है। शुक्र महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर उत्कृष्ट आयु है। शतार सहस्रार में कुछ अधिक अट्ठारह सागर, आनत प्राणत में बीस सागर और आरण अच्युत में बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है॥३१॥

कल्पातीत देवों की आयु बतलाते हैं-

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥३२॥

अर्थ : आरण और अच्युत स्वर्ग के ऊपर नौ ग्रैवेयकों में एक-एक सागर आयु बढ़ती जाती है। अतः पहले ग्रैवेयक में तेईस सागर की और अंतिम ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु है। उससे एक सागर अधिक यानी बत्तीस सागर की आयु अनुदिश विमानों में है। उससे एक सागर अधिक यानी तैंतीस सागर की आयु विजयादि विमानों में है और सर्वार्थि सिद्धि में तैंतीस सागर की ही आयु है उससे कम नहींहै॥३२॥

अब वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु कहकर जघन्य आयु कहते हैं-

अपरा पल्योपमम्धिकम्॥३३॥

अर्थ : सौधर्म और ऐशान स्वर्गों में देवों की जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा॥३४॥

अर्थ : नीचे नीचे के स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है वही उसके ऊपर के स्वर्गों में जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म ऐशान में जो दो सागर से अधिक आयु है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। सानत्कुमार माहेन्द्र में जो सात सागर से अधिक उत्कृष्ट आयु है वही ब्रहम ब्रह्मोत्तर में जघन्य है। इसी तरह ऊपर के समस्त कल्पों में और कल्पातीतों में जानना चाहिए॥३४॥

नारकियों की उत्कृष्ट आयु तो कह चुके किंतु जघन्य आयु नहीं कही। **अतः नारकियों का प्रकरण नहीं होने पर भी थोड़े में कहने के अभिप्राय से उनकी जघन्य आयु यहाँ कहते हैं-**

नारकाणां च द्वितीयादिषु॥३५॥

अर्थ : दूसरी आदि पृथ्वियों में भी जो ऊपर ऊपर उत्कृष्ट आयु है वही उससे नीचे

की पृथ्वियों की जघन्य आयु है। अर्थात् रत्नप्रभा में एक सागर की उत्कृष्ट आयु है वही शर्करा प्रभा में जघन्य आयु है। शर्करा प्रभा में जो तीन सागर की उत्कृष्ट आयु है वही बालुकाप्रभा में जघन्य आयु है। इस तरह सातवें नरक तक जानना चाहिए॥३५॥

पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु कहते हैं-

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्॥३६॥

अर्थ : पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है॥३६॥

भवनवासियों की जघन्य आयु कहते हैं-

भवनेषु च॥३७॥

अर्थ : भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है॥३७॥

व्यन्तरों की भी जघन्य आयु कहते हैं-

व्यन्तराणां च॥३८॥

अर्थ : व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है॥३८॥

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु भी कहते हैं-

परा पल्योपममधिकम्॥३९॥

अर्थ : व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है॥३९॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु कहते हैं-

ज्योतिष्काणां च॥४०॥

अर्थ : ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है॥४०॥

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु भी कहते हैं-

तदष्टभागोऽपरा॥४१॥

अर्थ : ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग है॥४१॥

अन्त में लौकान्तिक देवों की आयु कहते हैं-

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्॥४२॥

अर्थ : सब लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर है। ये सब शुक्ल लेश्या वाले होते हैं और इनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है॥४२॥

॥इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

अथ पंचमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव आदि सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का कथन हो चुका। इस अध्याय में अजीव तत्त्व का कथन है। अत: **अजीव के भेद गिनाते हैं-**

अजीव काया धर्माधर्मा काश-पुद्गलाः ॥१॥

अर्थ : धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव हैं और काय हैं।

विशेषार्थ : वैसे द्रव्य तो छह हैं। उनमें पाँच द्रव्य अजीव हैं। केवल एक द्रव्य जीव है। तथा छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। अत: जीव द्रव्य काय रूप हैं किंतु अजीव नहीं है और काल द्रव्य अजीव है किंतु काय रूप नहीं है। इसलिए जीव और काल के सिवा शेष चार द्रव्य ही ऐसे हैं जो अजीव भी हैं और काय भी हैं। जिस द्रव्य में चैतन्य नहीं पाया जाता उसे अजीव कहते हैं और जो बहुत प्रदेशी होता है उसे काय कहते हैं। ऐसे द्रव्य चार ही हैं- धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को जो गमन में सहायक होता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को जो ठहराने में सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में सहायक द्रव्य को आकाश द्रव्य कहते हैं और जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण पाए जाते हैं उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं॥१॥

अब इनकी संज्ञा बतलाते हैं-

द्रव्याणि॥२॥

अर्थ : ये धर्म अधर्म आदि द्रव्य हैं। जो त्रिकालवर्ती अपनी पर्यायों को प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का लक्षण सूत्रकार ने आगे स्वयं कहा है॥२॥

क्या जीव भी द्रव्य है?

जीवाश्च॥३॥

अर्थ : जीव भी द्रव्य है। यहाँ 'जीवा:' बहुवचन दिया है। अत: जीव द्रव्य बहुत से हैं ऐसा समझना॥३॥

अब इन द्रव्यों के बारे में विशेष कथन करते हैं-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि॥४॥

अर्थ : ये ऊपर कहे द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

विशेषार्थ : प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाए जाते हैं- विशेष और सामान्य।

जैसे धर्म द्रव्य का विशेष गुण तो गति में सहायकपना है और सामान्य गुण अस्तित्व है। इसी तरह सब द्रव्यों में सामान्य और विशेष गुण पाए जाते हैं। कभी भी द्रव्यों के इन गुणों का नाश नहीं होता। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है वह स्वभाव सदा रहता है। अत: सभी द्रव्य नित्य हैं तथा इनकी संख्या भी निश्चित है। न तो ये छह से बढ़कर सात होते हैं और न कभी छह से घटकर पाँच होते हैं। सदा छह के छह ही रहते हैं। इससे इन्हें अवस्थित कहा है तथा इनमें रूप, रस, वगैरह नहीं पाया जाता। इसलिए ये अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं।।४।।

सब द्रव्यों को अरूपी कहने से पुद्गल भी अरूपी ठहरता। अतः उसके निषेध के लिए सूत्र कहते हैं-

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

अर्थ : पुद्गल द्रव्य रूपी हैं।

विशेषार्थ : यहाँ रूपी कहने से रूप के साथ-साथ रहने वाले स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को भी लेना चाहिए क्योंकि ये चारों गुण साथ ही रहते हैं। 'पुद्गला:' शब्द बहुवचन है सो यह बतलाता है कि पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं।।५।।

आगे बतलाते हैं कि जैसे जीव द्रव्य बहुत हैं, पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं, वैसे धर्मादि द्रव्य बहुत नहीं हैं-

आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।।

अर्थ : धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य हैं।

विशेषार्थ : इन तीनों द्रव्यों को एक-एक बतलाने से यह स्पष्ट है कि बाकी के द्रव्य अनेक हैं। जैन सिद्धांत में बतलाया है कि जीव द्रव्य अनंतानंत हैं क्योंकि प्रत्येक जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जीवों से अनंत गुने पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक-एक जीव के उपभोग में अनंत पुद्गल द्रव्य हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं; क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित रहता है तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं।।६।।

क्रमशः इन एक-एक द्रव्यों के विषय में और अधिक कहते हैं-

निष्क्रियाणि च ।।७।।

अर्थ : धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं। इनमें हलन-चलन रूप क्रिया नहीं होती। अत: ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

शंका : जैन सिद्धांत में माना है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय उत्पाद, व्यय हुआ करता है। किंतु यदि धर्म आदि निष्क्रिय हैं तो उनमें उत्पाद नहीं हो सकता, क्योंकि

कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर जब घुमाता है तभी घड़े की उत्पत्ति होती है। अतः बिना क्रिया के उत्पाद नहीं हो सकता। और जब उत्पाद नहीं होगा तो व्यय (विनाश) भी नहीं होगा।

समाधान : धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्यों में क्रियापूर्वक उत्पाद नहीं होता किंतु दूसरे प्रकार से उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का माना है- एक स्व-निमित्तक, दूसरा पर-निमित्तक। जैन आगम में अगुरुलघु नाम के अनंत गुण माने गए हैं जो प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। उन गुणों में छह प्रकार की हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उसके निमित्त से द्रव्यों में स्वभाव से ही सदा उत्पाद-व्यय हुआ करता है। यह स्व-निमित्तक उत्पाद-व्यय है। तथा धर्मादि द्रव्य प्रति समय अश्व आदि अनेक जीवों और पुद्गलों के गमन में, ठहरने में और अवकाश दान में निमित्त होते हैं, प्रति क्षण गति वगैरह में परिवर्तन होता रहता है। अतः उनके निमित्त से धर्मादि द्रव्यों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

शंका : यदि धर्मादि द्रव्य स्वयं नहीं चलते तो वे दूसरों को चलाते कैसे हैं? देखा जाता है कि जल वगैरह जब स्वयं बहते हैं तभी मछलियों वगैरह को चलने में सहायक होते हैं।

समाधान : यह आपत्ति उचित नहीं है। जैसे चक्षु रूप के देखने में सहायक है किंतु यदि मनुष्य का मन दूसरी ओर लगा हो तो चक्षु रूप को देखने का आग्रह नहीं करती। इसी तरह धर्मादि द्रव्य भी चलने में उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं हैं।।७।।

'अजीव कायाः' सूत्र में 'काय' पद देने से यह तो ज्ञात हो गया कि उक्त द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। किंतु किसके कितने प्रदेश हैं यह ज्ञात नहीं हुआ। **उसके बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं-**

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।।८।।

अर्थ : धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य, इनमें से प्रत्येक के असंख्यात, असंख्यात प्रदेश होते हैं।

विशेषार्थ : जितने आकाश को पुद्गल का एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त होने से वे दोनों असंख्यात, असंख्यात प्रदेशी हैं। जीव भी उतने ही प्रदेशी हैं किंतु उसका स्वभाव सकुचने और फैलने का है। अतः नाम कर्म के द्वारा उसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उतने में ही फैलकर रह जाता है। किंतु जब केवलज्ञानी होकर वह लोक पूरण समुद्घात

करता है तब वह भी धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। अतः वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है।।८।।

आगे आकाश के प्रदेश बतलाते हैं-

आकाशस्यानन्ताः ।।९।।

अर्थ : आकाश द्रव्य के अनंत प्रदेश हैं। अर्थात् यद्यपि आकाश एक अखंड द्रव्य है किंतु यदि उसे परमाणु के द्वारा मापा जाए तो वह अनंत परमाणुओं के फैलाव के बराबर होता है। इससे उसे अनंत प्रदेशी कहा है।।९।।

पुद्गलों के भी प्रदेश बतलाते हैं-

संख्येयासंख्येयाश्चपुद्गलानाम्।।१०।।

अर्थ : यहाँ 'च' शब्द से अनंत लेना चाहिए। अतः किसी पुद्गल द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात हैं और किसी के अनंत हैं। आशय यह है कि शुद्ध पुद्गल द्रव्य तो एक अविभागी परमाणु है। किंतु परमाणुओं में बँधने और बिछुड़ने की शक्ति है। अतः परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है। सो कोई स्कन्ध तो दो परमाणुओं के मेल से बनता है, कोई तीन के, कोई चार के, कोई संख्यात के, कोई असंख्यात के और कोई अनंत परमाणुओं के मेल से बनता है। अतः कोई संख्यात प्रदेशी होता है, कोई असंख्यात प्रदेशी होता है और कोई अनंत प्रदेशी होता है।

शंका : लोक तो असंख्यात प्रदेशी है उसमें अनंत प्रदेशी पुद्गल द्रव्य कैसे रह सकता है?

समाधान : एक ओर तो पुद्गलों में सूक्ष्म रूप परिणमन करने की शक्ति है, दूसरी ओर आकाश में अवगाहन शक्ति है। अतः सूक्ष्म रूप पुद्गल एक-एक आकाश के प्रदेश में बहुत से रह सकते हैं। फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि छोटे से आधार में बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता। देखो, चम्पा के फूल की कली छोटी सी होती है। जब वह खिलती है तो उसकी गंध सब ओर फैल जाती है। अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनंतानंत पुद्गल द्रव्य रह सकते हैं।।१०।।

परमाणु के प्रदेशों के विषय कहते हैं-

नाणोः ।।११।।

अर्थ : परमाणु के प्रदेश नहीं होते, क्योंकि परमाणु एक प्रदेशी ही है। जैसे आकाश के एक प्रदेश के और विभाग न हो सकने से वह अप्रदेशी है वैसे ही परमाणु भी एक प्रदेशी ही है। अतः उसके दो तीन आदि प्रदेश नहीं होते। तथा पुद्गल के सबसे छोटे अंश को जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं। अतः परमाणु से

छोटा यदि कोई द्रव्य होता है तो उसके प्रदेश हो सकते थे किंतु उससे छोटा कोई द्रव्य है नहीं। इससे परमाणु एक प्रदेशी ही है।

धर्मादिक द्रव्य कहाँ रहते हैं, सो बतलाते हैं-

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ : धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं। आशय यह है कि आकाश तो सर्वत्र है। उसके बीच के जितने भाग में धर्म आदि छहों द्रव्य पाए जाते हैं उतने भाग को लोकाकाश कहते हैं। और उसके बाहर सब ओर जो आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं। धर्मादि द्रव्य लोकाकाश में ही पाए जाते हैं, बाहर नहीं।

शंका : यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश का आधार क्या है?

समाधान : आकाश का आधार अन्य कोई नहीं है। वह अपने ही आधार है।

शंका : यदि आकाश अपने आधार है तो धर्मादि द्रव्यों को भी अपने ही आधार होना चाहिए। और यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार कोई अन्य द्रव्य है तो आकाश का भी दूसरा आधार होना चाहिए।

समाधान : आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है जिसके आधार आकाश रह सके। आकाश तो सब ओर अनंत है- उसका कहीं अंत ही नहीं है तथा निश्चय नय से सभी द्रव्य अपने आधार हैं- कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के आधार नहीं है। किंतु व्यवहार नय से धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश को कहा जाता है क्योंकि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं पाए जाते।

शंका : लोक में जो पूर्वोत्तर काल भावी होते हैं उन्हीं में आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे मकान पहले बन जाता है, तो पीछे उसमें मनुष्य आकर बसते हैं। किंतु इस तरह 'आकाश पहले से है और धर्मादि द्रव्य उसमें बाद को आए हैं' ऐसी बात तो आप मानते नहीं। ऐसी स्थिति में व्यवहार नय से भी आधार आधेयपना नहीं बन सकता?

समाधान : आपकी आपत्ति ठीक नहीं है। जो एक साथ होते हैं उनमें भी आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे शरीर और हाथ एक साथ ही बनते हैं फिर भी 'शरीर में हाथ है' ऐसा कहा जाता है। इसी तरह यद्यपि सभी द्रव्य अनादि हैं फिर भी 'आकाश में धर्मादि द्रव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने में कोई दोष नहीं है॥१२॥

कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है? यह बतलाते हैं-

धर्मा-धर्मयोः कृत्स्ने॥१३॥

अर्थ : धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। अर्थात् जैसे मकान

के एक कोने में घड़ा रखा रहता है उस तरह से धर्म-अधर्म द्रव्य लोकाकाश में नहीं रहते। किंतु जैसे तिलों में सर्वत्र तेल पाया जाता है वैसे ही दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में पाए जाते हैं।।१३।।

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्।।१४।।

अर्थ : पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश से लगाकर असंख्यात प्रदेशों में है अर्थात् एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश में रहता है। दो परमाणु यदि जुदे-जुदे होते हैं तो दो प्रदेशों में रहते हैं और यदि परस्पर में बँधे हों तो एक प्रदेश में रहते हैं। इसी तरह संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में अथवा संख्यात या असंख्यात प्रदेशों में रहते हैं। जैसा स्कन्ध होता है उसी के अनुसार स्थान में वह रहता है।

शंका : धर्म-अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक है, अत: वे एक जगह बिना किसी बांधा के रह सकते हैं। किंतु पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक है अत: एक प्रदेश में अनेक मूर्तिक पुद्गल कैसे रह सकते हैं?

समाधान : जैसे प्रकाश मूर्तिक है फिर भी एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणमन होने से लोकाकाश के एक प्रदेश में बहुत से पुद्गल परमाणु रह सकते हैं।।१४।।

एक जीव कितनी जगह रोकता है यह बतलाते हैं-

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।।१५।।

अर्थ : लोक के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह होता है। अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात भाग करने पर जो एक असंख्यातवाँ भाग होता है कम से कम उस एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है क्योंकि सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीव की होती है। सो वह जीव लोक के असंख्यातवें भाग स्थान को रोकता है। यदि जीव की अवगाहना बड़ी होती है तो वह लोक के दो, तीन, चार आदि असंख्यातवें भागों में रहता है। यहाँ तक कि सर्वलोक तक में व्याप्त हो जाता है।

शंका : यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो अनंतानंत जीवराशि लोकाकाश में कैसे रह सकती है?

समाधान : जीव दो प्रकार के होते हैं- सूक्ष्म और बादर। जिनका शरीर स्थूल होता है उन्हें बादर कहते हैं। बादर जीव एक जगह बहुत से नहीं रह सकते। किंतु सूक्ष्म शरीर वाले जीव सूक्ष्म होने से जितनी जगह में एक निगोदिया जीव रहता है उतनी जगह में साधारण काय के रूप में अनंतानंत रह सकते हैं; क्योंकि वे न तो किसी

से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं। अत: कोई विरोध नहीं होता॥१५॥

शंका : एक जीव को लोकाकाश के बराबर प्रदेश वाला बतलाया है। ऐसा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है? उसे तो समस्त लोक में व्याप्त होकर ही रहना चाहिए?

सूत्रकार इस शंका के समाधान के लिए सूत्र कहते हैं-

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यांप्रदीपवत्॥१६॥

अर्थ : यद्यपि जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं फिर भी दीपक की तरह प्रदेशों का संकोच विस्तार होने से जीव लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहता है।

विशेषार्थ : यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है फिर भी अनादि काल से कर्मों के साथ एकमेक होने के कारण कथंचित् मूर्तिक हो रहा है। अत: कर्म के वश से छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उसके अनुसार ही उसके प्रदेशों का संकोच या फैलाव हो जाता है और वह उस शरीर में व्याप्त होकर रह जाता है। जैसे दीपक को छोटे या बड़े जैसे स्थान में रखा जाता है उसी रूप में उसका प्रकाश या तो फैल जाता है अथवा संकुचित हो जाता है। वैसे ही आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए। किंतु प्रदेशों का संकोच विस्तार होने पर भी प्रदेशों का परिमाण नहीं घटता-बढ़ता। हर हालत में प्रदेश लोकाकाश के बराबर ही रहते हैं।

शंका : यदि आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होता है तो वे सकुचते-सकुचते इतने छोटे क्यों नहीं हो जाते कि आकाश के एक प्रदेश में एक जीव रह सके?

समाधान : आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार शरीर के अनुसार होता है। और सबसे छोटा शरीर सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीव के होता है जिसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। अत: जीव की अवगाहना इससे कम नहीं होती, कम से कम इतनी ही रहती है। इससे वह लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है॥१६॥

अब प्रत्येक द्रव्य का कार्य बतलाते हैं-

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार: ॥१७॥

अर्थ : जीव और पुद्गल की गति रूप उपकार धर्म द्रव्य करता है और स्थिति रूप उपकार अधर्म द्रव्य करता है।

विशेषार्थ : जीव और पुद्गल द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं। यह गमन करने की शक्ति तो जीव और पुद्गलों में ही है। अत: गमन करने में अंतरंग कारण तो वे स्वयं ही हैं। किंतु बाह्य सहायक के बिना कोई कार्य नहीं होता। अत:

बाह्य सहायक धर्म द्रव्य है। किंतु यदि कोई जीव या पुद्गल गमन नहीं करता हो तो उसे धर्म द्रव्य चलने की प्रेरणा नहीं करता। जैसे मछली में गमन करने की शक्ति तो स्वयं ही है परंतु बाह्य सहायक जल है। किंतु यदि मछली न चले तो जल उसे जबरन नहीं चलाता है। फिर भी जल के बिना मछली गमन नहीं कर सकती है अतः उसके गमन करने में जल सहायक है। ऐसे ही अधर्म द्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलों को ठहरने में सहकारी कारण है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में गमन करते हुए पथिकों को ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक है। परंतु वह जबरन किसी को नहीं ठहराता है।

शंका : भूमि, जल वगैरह ही गति वगैरह में सहायक देखे जाते हैं फिर धर्म और अधर्म द्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान : भूमि, जल वगैरह तो किसी किसी के ही चलने या ठहरने में सहायक हैं। किंतु धर्म और अधर्म द्रव्य तो सभी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में साधारण सहायक हैं। फिर एक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण भी आवश्यक होते हैं। अतः ऊपर की शंका ठीक नहीं है।।१७।।

क्रमशः आकाश द्रव्य का उपकार बतलाते हैं-

आकाशस्यावगाहः ।।१८।।

अर्थ : सब द्रव्यों को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

शंका : क्रियावान जीव और पुद्गल द्रव्य को अवकाश देना तो ठीक है किंतु धर्मादि द्रव्य तो कहीं आते-जाते नहीं हैं, अनादि काल से जहाँ के तहाँ स्थित हैं। उनको अवकाश देने की बात उचित प्रतीत नहीं होती?

समाधान : जैसे आकाश चलता नहीं है फिर भी उसे सर्वगत (जो सब जगह जाता है) कहते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है। ऐसे ही धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप क्रिया यद्यपि नहीं है फिर भी वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं इसलिए उपचार से उन्हें अवगाही कह दिया है। यद्यपि जीव और पुद्गलों को ही आकाश मुख्य रूप से अवकाश देता है।

शंका : यदि अवकाश (स्थान) देना आकाश का स्वभाव है तो एक मूर्तिक द्रव्य का दूसरे मूर्तिक द्रव्य से प्रतिघात नहीं होना चाहिए; क्योंकि आकाश सर्वत्र है। किंतु देखा जाता है कि मनुष्य दीवार से टकराकर रुक जाता है।

समाधान : यह दोष ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य जब दीवार से टकराता है तो वहाँ पुद्गल की पुद्गल से टक्कर होती है किंतु इसमें आकाश का क्या दोष है? जैसे यदि रेलगाड़ी भरी हो और उसमें बैठे हुए यात्री अन्य यात्रियों को न चढ़ने दें तो इसमें रेलगाड़ी का क्या दोष है वह तो बराबर स्थान दिये हुए है।

शंका : अलोकाकाश में कोई दूसरा द्रव्य नहीं रहता, अतः वहाँ के आकाश में अवकाश देने का स्वभाव नहीं है?

समाधान : यदि वहाँ कोई द्रव्य नहीं रहता तो इससे आकाश अपने स्वभाव को नहीं छोड़ देता। जैसे किसी खाली मकान में यदि कोई नहीं रहता तो इसका यह मतलब नहीं है कि उस मकान में किसी को स्थान देने की शक्ति ही नहीं है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकता।।१८।।

आगे पुद्गल द्रव्य का उपकार बतलाते हैं-

शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाःपुद्गलानाम्।।१९।।

अर्थ : शरीर, वचन, मन और श्वास उच्छवास ये सब पुद्गलों का उपकार है।

विशेषार्थ : हमारा शरीर तो पुद्गलों का बना है। यह बात प्रत्यक्ष ही है। कार्मण शरीर यानी जो कर्मपिंड आत्मा से बँधा हुआ है वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के निमित्त से ही कर्म अपना फल देते हैं। जैसे पैर में काँटा चुभने से असाता कर्म का उदय होता है और मीठे रुचिकर पदार्थ को खाने या मिलने से साता कर्म का उदय होता है। अतः मूर्तिक के निमित्त से फलोदय होने के कारण कार्मण शरीर मूर्तिक ही है। वचन दो प्रकार का है- भाव वचन और द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय कर्म और मति श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा आंगोपांग नामकर्म के उदय से आत्मा में जो बोलने की शक्ति होती है उसे भाव वचन कहते हैं। पुद्गल के निमित्त से होने के कारण यह भी पौद्गलिक है तथा बोलने की शक्ति से युक्त जीव के कंठ तालु वगैरह के संयोग से जो पुद्गल शब्द रूप बनते हैं वह द्रव्य वचन है। वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि कानों से सुनाई देता है। दूसरे मत वाले शब्द को अमूर्तिक मानते हैं किंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द मूर्तिमान श्रोत्रेन्द्रिय से जाना जाता है, मूर्तिमान वायु के द्वारा एक दिशा से दूसरी दिशा में ले जाया जाता है। शब्द की टक्कर से प्रतिध्वनि होती है, शब्द मूर्तिक के द्वारा रुक जाता है। अतः शब्द मूर्तिक ही है। मन भी दो प्रकार का है- भाव मन और द्रव्य मन। गुण दोष के विचार की शक्ति को भाव मन कहते हैं। वह शक्ति पुद्गल कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होती है अतः वह भी पौद्गलिक है तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और आंगोपांग नाम कर्म के उदय से हृदयस्थान में जो पुद्गल मन रूप से परिणमन करते हैं, उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। यह द्रव्य मन तो पुद्गलों से ही बनता है इसलिए यह भी पौद्गलिक है। अंदर की वायु को बाहर निकालना उच्छवास या प्राण है। और बाहर की वायु को अंदर ले जाना निःश्वास या अपान है। ये दोनों भी पौद्गलिक हैं क्योंकि हथेली के द्वारा नाक और मुँह को बंद कर लेने से

श्वास रुक जाता है। तथा ये आत्मा के उपकारी हैं; क्योंकि श्वास-निश्वास के बिना सशरीरी आत्मा जीवित नहीं रह सकता। इन्हीं से आत्मा का अस्तित्व मालूम होता है; क्योंकि जैसे किसी मशीन को कार्य करती हुई देखकर यह मालूम होता है कि इसका कोई संचालक है उसी तरह श्वास-निश्वास की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है।।१९।।

पुद्गल द्रव्य का और भी उपकार बतलाते हैं-

सुख-दुःख जीवित-मरणोपग्रहाश्च।।२०।।

अर्थ : सुख-दु:ख, जीवन-मरण भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

विशेषार्थ : साता वेदनीय के उदय से और बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से आत्मा को जो प्रसन्नता होती है वह सुख है। और असातावेदनीय के उदय से जो संक्लेश रूप भाव होता है वह दु:ख है। आयु कर्म के उदय से एक भव में स्थित जीव के श्वासोच्छ्वास का जारी रहना जीवन है और उसका उच्छेद हो जाना मरण है। ये भी पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं। अत: पौद्गलिक हैं। यहाँ उपकार का प्रकरण होने पर भी सूत्र में जो 'उपग्रह' पद दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पुद्गल जीव का ही उपकार नहीं करता, किंतु पुद्गल पुद्गल का भी उपकार करता है। जैसे राख से कांसे के बर्तन साफ किये जाते हैं या निर्मली डालने से मैला पानी साफ हो जाता है तथा यहाँ उपकार का मतलब केवल भलाई नहीं लेना चाहिए, बल्कि किसी भी कार्य में सहायक होना उपकार है।।२०।।

आगे जीवकृत उपकार बतलाते हैं-

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।।२१।।

अर्थ : आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीवों का उपकार है। जैसे स्वामी धन वगैरह के द्वारा अपने सेवक का उपकार करता है और सेवक हित की बात कहकर और अहित से बचाकर स्वामी का उपकार करता है। इसी तरह गुरु उचित उपदेश देकर शिष्य का उपकार करता है और शिष्य गुरु की आज्ञा के अनुसार आचरण करके गुरु का उपकार करता है। उपकार का प्रकरण होते हुए भी इस सूत्र में जो उपग्रह पद दिया है वह यह बतलाने के लिए दिया है कि पहले सूत्र में बतलाए गए सुख-दु:ख आदि भी जीवकृत उपकार हैं। अर्थात् एक-दूसरे जीव को सुख-दु:ख भी देता है और जीवन मरण में भी सहायक होता है।।२१।।

अंत में काल का उपकार बतलाते हैं-

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वा-परत्वे च कालस्य।।२२।।

अर्थ : वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

विशेषार्थ : प्रति समय छहों द्रव्यों में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है इसी का नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय रूप से प्रति समय स्वयं ही परिणमन करते हैं किंतु बिना बाह्य निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। और उसमें बाह्य निमित्त काल है। अत: वर्तना को काल का उपकार कहा जाता है। अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे जीव के परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गल के परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने का नाम क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलों में ही पाई जाती है। जो बहुत दिनों का होता है उसे पर कहते हैं और जो थोड़े दिनों का होता है उसे अपर कहते हैं। ये सब कालकृत उपकार हैं। यद्यपि परिणाम वगैरह वर्तना के ही भेद हैं किंतु काल के दो भेद बतलाने के लिए उनका सबका ग्रहण किया है। काल द्रव्य दो प्रकार का है- निश्चय काल और व्यवहार काल। निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहार काल का लक्षण परिणाम वगैरह है। जीव पुद्गलों में होने वाले परिणमन में ही व्यवहारकाल घड़ी, घंटा वगैरह जाने जाते हैं। उसके तीन भेद हैं भूत, वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात वगैरह में होने वाले काल के व्यवहार से मुख्य निश्चयकाल का अस्तित्व जाना जाता है, क्योंकि मुख्य के होने से ही गौण व्यवहार होता है। अत: लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो एक एक कालाणु स्थिर है वही निश्चय काल है। उसी के निमित्त से वर्तना वगैरह उपकार होते हैं॥२२॥

अब पुद्गलों का लक्षण बतलाते हैं-

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः॥२३॥

अर्थ : जिनमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाए जाते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं। समस्त पुद्गलों में ये चारों गुण अवश्य पाए जाते हैं।

विशेषार्थ : स्पर्श गुण आठ प्रकार का है-स्निग्ध रूक्ष, शीत-उष्ण, कोमल-कठोर और हल्का-भारी। रस पाँच प्रकार का होता है-खट्टा, मीठा, कड़ुआ, कसैला और चिरपरा। गंध दो प्रकार की है-सुगंध और दुर्गंध। वर्ण पाँच प्रकार का है-काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। इस तरह बीस भेद हैं। इन भेदों के भी अवान्तर भेद बहुत हैं। ये सब गुण पुद्गलों में पाए जाते हैं॥२३॥

आगे पुद्गल द्रव्य की पर्याय बतलाते हैं-

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया-तपोद्योतवन्तश्च॥२४॥

अर्थ : शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गल की ही पर्याय हैं।

विशेषार्थ : शब्द दो प्रकार का है-भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है-अक्षर रूप और अनक्षर रूप। मनुष्यों के व्यवहार में आने वाली अनेक बोलियाँ अक्षर रूप भाषात्मक शब्द है। और पशु-पक्षियों वगैरह की टें-टें में में अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अभाषा रूप शब्द दो प्रकार का है एक जो पुरुष के प्रयत्न से पैदा होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं। और जो बिना पुरुष के प्रयत्न के मेघ आदि की गर्जना से होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रायोगिक के भी चार भेद हैं-चमड़े को मढ़कर ढोल नगाड़े वगैरह का जो शब्द होता है वह तत है। सितार वगैरह के शब्द को वितत कहते हैं। घंटा वगैरह के शब्द को घन कहते हैं। बांसुरी शंख वगैरह के शब्द को सुषिर कहते हैं। ये सब शब्द के भेद हैं। बंध भी दो प्रकार का है-वैस्त्रसिक और प्रायोगिक। जो बंध बिना पुरुष के प्रयत्न के स्वयं होता है उसे वैस्त्रसिक कहते हैं। जैसे पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से स्वयं ही बादल बिजली और इंद्रधनुष वगैरह बन जाते हैं। पुरुष के प्रयत्न से होने वाला बंध प्रायोगिक है। उसके भी दो भेद हैं-एक अजीव अजीव का बंध, जैसे लकड़ी और लाख का बंध। दूसरा जीव और अजीव का बंध, जैसे आत्मा से कर्म और नोकर्म का बंध। सूक्ष्मपना दो प्रकार का है-एक सबसे सूक्ष्म, जैसे परमाणु। दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्म जैसे बेल से सूक्ष्म आंवला और आंवले से सूक्ष्मी बेर। स्थूलपना भी दो प्रकार है -एक सबसे अधिक स्थूल जैसे समस्त जगत में व्याप्त महास्कंध। दूसरा आपेक्षिक स्थूल-जैसे बेर से स्थूल आंवला और आंवला से स्थूल बेल। संस्थान यानी आकार भी दो तरह का है गोल, चौकोर, लंबा, चौड़ा आदि आकारों को 'इत्थ लक्षण' कहते हैं-क्योंकि उन्हें कहा जा सकता है। और जिस आकार को कह सकना शक्य न हो, जैसे बादलों में अनेक प्रकार के आकार बनते बिगड़ते रहते हैं, उन्हें 'अनित्थ लक्षण' कहते हैं। भेद छह प्रकार का है-आरा से लकड़ी को चीरने पर जो बुरादा निकलता है उसका नाम उत्कर है। जौ गेहूँ के आटे को चूर्ण कहते हैं। घड़े के ठिकरों को खंड कहते हैं। उड़द-मूँद वगैरह की दाल के छिलकों को चूर्णिका कहते हैं। मेघ वगैरह के पटल का नाम प्रतर है। लोहे को गर्म करके पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं उन्हें अणु-चटन कहते हैं। ये सब भेद यानी टुकड़ों के प्रकार हैं। तम अन्धकार का नाम है। छाया दो प्रकार की होती है एक तो जिस वस्तु की छाया हो उसका रूप रंग ज्यों का त्यों उसमें आ जाए, जैसे दर्पण में मुख का रूप रंग वगैरह ज्यों का त्यों आ जाता है। दूसरे प्रतिबिम्ब मात्र, जैसे धूप में खड़े होने से छाया मात्र पड़ जाती है। सूर्य

के प्रकाश को आतप या घाम कहते हैं। चंद्रमा वगैरह के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। ये सब पुद्गल की ही पर्याएँ हैं॥२४॥

आगे पुद्गल के भेद कहते हैं-

अणवः स्कन्धाश्च॥२५॥

अर्थ : पुद्गल के दो भेद हैं-अणु और स्कन्ध। जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं। और जो स्थूल हो, जिसे उठा सकें, रख सकें, वह स्कन्ध है। यद्यपि ऐसे भी स्कन्ध हैं जो दिखाई नहीं देते। फिर भी वे स्कन्ध ही कहलाते हैं, क्योंकि दो या दो से अधिक परमाणुओं के मेल से जो पुद्गल बनता है वह स्कन्ध कहा जाता है।

विशेषार्थ : पुद्गल बहुत तरह के होते हैं किन्तु वे सब दो जाति के होते हैं। अतः अणु और स्कन्ध में उन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ऊपर कहे हुए बीस गुणों में से एक परमाणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और शीत ऊष्ण से एक तथा स्निग्ध रूक्ष में से एक इस तरह दो स्पर्श रहते हैं। ऊपर जो शब्दादि गिनाए हैं वे सब स्कन्ध हैं। स्कन्धों में अनेक रस, अनेक रूप वगैरह पाए जाते हैं॥२५॥

अब स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है यह बतलाते हैं-

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते॥२६॥

अर्थ : भेद, संघात और भेद संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्कन्धों के टूटने को भेद कहते हैं। भिन्न-भिन्न परमाणुओं या स्कन्धों के मिलकर एक हो जाने को संघात कहते हैं। जैसे दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के मेल से उतने ही प्रदेशी स्कन्ध बनता है। तथा एक स्कन्ध में दूसरे स्कन्ध के मिलने या अन्य परमाणुओं के मिलने से भी स्कन्ध बनता है। इन्हीं स्कन्धों के टूटने से भी दो प्रदेशी स्कन्ध तक स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इसी तरह एक स्कन्ध के टूटकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाने से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है॥२६॥

अब अणु की उत्पत्ति बतलाते हैं-

भेदादणुः॥२७॥

अर्थ : अणु की उत्पत्ति स्कन्धों के टूटने से होती है, संघात से नहीं होती॥२७॥

शंका : जब संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति होती है तो भेद संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति क्यों बतलाई?

इस शंका के समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ : भेद और संघात दोनों से स्कन्ध चक्षु इंद्रिय का विषय होता है।

विशेषार्थ : आशय यह है कि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होने से ही कोई स्कन्ध चक्षु इंद्रिय के द्वारा देखने योग्य नहीं हो जाता। किन्तु उनमें भी कोई दिखाई देने योग्य होता है और कोई दिखाई देने योग्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न पैदा होता है कि जो स्कन्ध अदृश्य है वह दृश्य कैसे हो सकता है। तो उसके समाधान के लिए यह सूत्र कहा गया है, जो बतलाता है कि केवल भेद से ही कोई स्कन्ध चक्षु इंद्रिय से देखने योग्य नहीं हो जाता किन्तु भेद और संघात दोनों से ही होता है। जैसे एक सूक्ष्म स्कन्ध है। वह टूट जाता है। टूटने से उसके दो टुकड़े हो जाने पर भी वह सूक्ष्म ही बना रहता है और इस तरह वह चक्षु इंद्रिय के द्वारा नहीं देखा जा सकता। किन्तु जब वह सूक्ष्म स्कन्ध दूसरे स्कन्ध में मिलकर अपने सूक्ष्मपने को छोड़ देता है और स्थूल रूप धारण कर लेता है तो चक्षु इंद्रिय का विषय हो जाता है उसे आँख से देखा जा सकता है॥२८॥

अब द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

सद् द्रव्यलक्षणम्॥२९॥

अर्थ : द्रव्य का लक्षण सत् है। अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य है॥२९॥

अब सत् का लक्षण कहते हैं-

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्॥३०॥

अर्थ : जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है।

विशेषार्थ : अपनी जाति को न छोड़कर चेतन या अचेतन द्रव्य में नई पर्याय के उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड में घट पर्याय होती है। पहली पर्याय के नष्ट होने को व्यय कहते हैं। जैसे घट पर्याय के उत्पन्न होने पर मिट्टी का पिण्ड रूप आकार नष्ट हो जाता है तथा पूर्व पर्याय का नाश और नई पर्याय का उत्पाद होने पर भी अपने अनादि स्वभाव को न छोड़ना ध्रौव्य है। जैसे पिण्ड आकार के नष्ट होने पर और घट पर्याय के उत्पन्न होने पर भी मिट्टी कायम रहती है। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों धर्म एक साथ पाए जाते हैं, क्योंकि नई पर्याय का उत्पन्न होना ही पहली पर्याय का नाश है। और पहले की पर्याय का नाश होना ही नई पर्याय का उत्पाद है। तथा उत्पाद होने पर भी द्रव्य वही रहता है। और व्यय होने पर भी द्रव्य वही रहता है। जैसे कुम्हार मिट्टी का लौंदा लेकर और उसके चाक पर रखकर जब घुमाता है तो क्षण-क्षण में उस मिट्टी की पहली पहली हालत बदलकर नई-नई हालत होती जाती है और

मिट्टी की मिट्टी बनी रहती है। ऐसा नहीं है कि जो मिट्टी की नई हालत तो हो जाए और पहली हालत न बदले। या पहली हालत नष्ट हो जाए और नई हालत पैदा न हो। अथवा इन हालतों के अदलने-बदलने से द्रव्य भी और का और हो जाए। यदि केवल उत्पाद को ही माना जाए और व्यय तथा ध्रौव्य को न माना जाए तो नई वस्तु का उत्पन्न होना ही शेष रहा। ऐसी स्थिति में बिना मिट्टी के ही घट बन जाएगा तथा यदि वस्तु का विनाश ही माना जाए और उत्पाद तथा ध्रौव्य को न माना जाए तो घड़े के फूट जाने पर ठीकरे या मिट्टी कुछ भी शेष न रहेंगे। इसी तरह यदि केवल ध्रौव्य को ही माना जाए और उत्पाद व्यय को न माना जाए तो जो वस्तु जिस हालत में है वह उसी हालत में बनी रहेगी और उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। किन्तु ये सभी बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। उसमें प्रति समय रद्दोबदल होती है। फिर भी जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता और जो सर्वथा असत् है उसका उत्पाद नहीं होता। तथा परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु का मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहता है जड़ चेतन नहीं हो जाता और न चेतन जड़ हो जाता है। अतः जो सत् है वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप ही है। उसे ही द्रव्य कहते हैं॥३०॥

आगे नित्य का स्वरूप बतलाते हैं-

तद्भावाव्ययं नित्यम्॥३१॥

अर्थ : वस्तु के स्वभाव को तद्भाव कहते हैं और उसका नाश न होना नित्यता है।

विशेषार्थ : यद्यपि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है किंतु परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु में कुछ ऐसी एकरूपता बनी रहती है जिसके कारण हम उसे कालान्तर में भी पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है जिसे हमने पहले देखा था। उस एकरूपता का नाम ही नित्यता है। आशय यह है कि जैन धर्म में प्रत्येक वस्तु को जब प्रतिसमय परिवर्तनशील बतलाया तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि जब प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है तो वह नित्य कैसे है? इसका समाधान करने के लिए सूत्रकार ने बतलाया कि नित्य का मतलब यह नहीं कि जो वस्तु जिस रूप में है वह सदा उसी रूप में बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन न हो। बल्कि परिणमन के होते हुए भी उसमें ऐसी एकरूपता का बना रहना ही नित्यता है जिसे देखकर हम तुरंत पहचान लें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था॥३१॥

उक्त कथन का यह अभिप्राय हुआ कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। ऐसी स्थिति में यह शंका होती है कि **जो नित्य है वह अनित्य कैसे? इसके समाधान के**

लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।।३२।।

अर्थ : मुख्य को अर्पित कहते हैं और गौण को अनर्पित कहते हैं। मुख्यता और गौणता से ही अनेक धर्म वाली वस्तु का कथन सिद्ध होता है।

विशेषार्थ : वस्तु में अनेक धर्म हैं। उन अनेक धर्मों में से वक्ता का प्रयोजन जिस धर्म से होता है वह धर्म मुख्य हो जाता है। और प्रयोजन न होने से बाकी के धर्म गौण हो जाते हैं। किन्तु किसी एक धर्म की प्रधानता से कथन करने का यह मतलब नहीं लेना चाहिए कि वस्तु में अन्य धर्म है ही नहीं। अतः किसी धर्म की प्रधानता और किसी धर्म की अप्रधानता से ही वस्तु की सिद्धि होती है। जैसे एक देवदत्त नाम के पुरुष में पिता, पुत्र, भाई, जमाई, मामा, भानजा आदि अनेक संबंध भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पाए जाते हैं। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है। पिता की अपेक्षा पुत्र है। भाई की अपेक्षा भाई है। श्वसुर की अपेक्षा जमाई है। भानजे की अपेक्षा मामा है और मामा की अपेक्षा भानजा है। इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी तरह वस्तु सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है। जैसे घट पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि घड़े के फूट जाने पर घट पर्याय नष्ट हो जाती है। और मिट्टी की अपेक्षा नित्य है, क्योंकि घड़े के फूट जाने पर भी मिट्टी कायम रहती है। इसी तरह सभी वस्तुओं के विषय में समझ लेना चाहिए।।३२।।

ऊपर यह बतलाया है कि स्कन्धों की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद संघात से होती है। इसमें यह शंका होती है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने से ही क्या स्कन्ध बन जाता है? इसका उत्तर यह है कि दो परमाणुओं का संयोग हो जाने पर भी जब तक उनमें रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा बंध नहीं होता जो दोनों को एक रूप कर दे, तब तक स्कन्ध नहीं बन सकता। इस पर पुनः यह शंका होती है कि **अनेक पुद्गलों का संयोग होता देखा जाता है परंतु उनमें किन्हीं का परस्पर में बंध रहता है और किन्हीं का बन्ध नहीं होता, इसका क्या कारण है? इसके समाधान के लिए आगे का कथन करते हैं-**

स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः ।।३३।।

अर्थ : स्निग्धता अर्थात् चिक्कणपना और रूक्षता अर्थात रूखापना। इन दोनों के कारण ही पुद्गल परमाणुओं का परस्पर में बंध होता है।

विशेषार्थ : पुद्गलों में स्नेह और रूक्ष गुण पाए जाते हैं। किन्हीं परमाणुओं में रूक्ष गुण होता है और किन्हीं परमाणुओं में स्नेह गुण होता है। स्नेह गुण के अविभागी

प्रतिच्छेद बहुत से होते हैं। इसी तरह रूक्ष गुण के अविभागी प्रतिच्छेद भी बहुत से होते हैं। शक्ति के सबसे जघन्य अंश को अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। एक-एक परमाणु में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं और वे घटते बढ़ते रहते हैं। किसी समय अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद से घटते घटते असंख्यात अथवा संख्यात अथवा और भी कम अविभागी प्रतिच्छेद रह जाते हैं। और कभी बढ़कर, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद हो जाते हैं। इस तरह परमाणुओं में स्निग्धता और रूक्षता हीन या अधिक पाई जाती है जिसका अनुमान हम स्कन्धों को देखकर कर सकते हैं। जैसे जल से बकरी के दूध घी में, बकरी के दूध घी से गौ के दूध घी में, गौ के दूध घी से भैंस के दूध घी में और भैंस के दूध घी से ऊँटनी के दूध घी में चिकनाई अधिक पाई जाती है। इसी तरह धूल से रेत में और रेत से बजरी में रूखापन अधिक पाया जाता है। वैसे ही परमाणुओं में भी चिकनाई और रुखाई कमती बढ़ती होती है। वही पुद्गलों के बंध में कारण हैं॥३३॥

उक्त कथन से सभी परमाणुओं में बन्ध की प्राप्ति हुई। अतः जिन परमाणुओं का बंध नहीं होता उनका कथन करते हैं-

न जघन्यगुणानाम्॥३४॥

अर्थ : जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता।

विशेषार्थ : यहाँ गुण से मतलब अविभागी प्रतिच्छेद से है। अतः जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है उनका बंध नहीं होता॥३४॥

इस तरह जघन्य गुण वाले परमाणुओं के सिवा शेष सभी परमाणुओं का बंध प्राप्त हुआ। अतः उनमें भी और नियम करते हैं, कि बंध कब नहीं होता?

गुणसाम्ये सदृशानाम्॥३५॥

अर्थ : गुणों की समानता होने पर सजातीय परमाणुओं का बंध नहीं होता।

विशेषार्थ : यदि बंधने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों, तो उनका भी बंध नहीं होता। जैसे दो गुण स्नेह वाले परमाणु का दो गुण स्नेह वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता है। आशय यह है कि 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः' इस सूत्र से केवल स्निग्धता और रूक्षता गुण वाले परमाणुओं का ही बंध सिद्ध होता है, स्निग्धता-स्निग्धता वालों का या रूक्षता रूक्षता वालों का

बंध सिद्ध नहीं होता। अतः गुणों में विषमता होने पर सजातीयों का भी बंध बतलाने के लिए यह सूत्र बनाया गया है।।३५।।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि विषम गुण वाले सभी सजातीय और विजातीय परमाणुओं का बंध होता है। अतः उसमें नियम करते हैं, कि बंध कब होता है-

द्वयधिकादिगुणानां तु।।३६।।

अर्थ : जिनमें दो गुण अधिक होते हैं उन्हीं परमाणुओं का परस्पर में बंध होता है।

विशेषार्थ : सजातीय हों अथवा विजातीय हों, जिस परमाणु में स्निग्धता के दो गुण होते हैं उस परमाणु का एक गुण स्निग्धता वाले अथवा दो गुण स्निग्धता वाले अथवा तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणुओं के साथ बंध नहीं होता, किन्तु जिनमे चार गुण स्निग्धता के होते हैं, उसके साथ बंध होता है। तथा उस दो गुण स्निग्ध परमाणु का पाँच, छः सात, आठ, नौ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध परमाणु के साथ भी बंध नहीं होता। इसी तरह तीन गुण स्निग्ध वाले परमाणु का पाँच गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ ही बंध होता है, न उससे कम गुण वालों के साथ बंध होता है और न उससे अधिक गुण वाले परमाणुओं के साथ बंध होता है। तथा दो गुण रूक्ष परमाणु का चार गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंध होता है उससे कम या अधिक गुण वाले के साथ नहीं होता। इसी तरह तीन गुण रूक्ष परमाणु का पाँच गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंध होता है उससे कम या अधिक के साथ बंध नहीं होता। यह तो हुआ सजातीयों का बंध। इसी तरह भिन्न जातियों में भी लगा लेना चाहिए। अर्थात दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंद होता है। तथा तीन गुण स्निग्ध परमाणु पाँच गुण रूक्ष परमाणु के साथ ही बंध होता है। उससे कम या अधिक गुण वाले के बंध नहीं होता। 'न जघन्यगुणानाम्' इस सूत्र से लगाकर आगे के सूत्रों में जो बंध का निषेध चला आता था उसका निवारण करने के लिए इस सूत्र में 'तु' पद लगा दिया है, जो निषेध को हटाकर बंध का विधान करता है।।३६।।

अब यह शंका होती है कि अधिक गुण वालों का ही बंध क्यों बतलाया, समान गुण वालों का क्यों नहीं बतलाया? अतः उसके समाधान के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।।३७।।

अर्थ : बंध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है।

विशेषार्थ : जब दो परमाणु अपनी अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर एक तीसरी अवस्था को अपनाते हैं तभी स्कन्ध बनता है। यदि ऐसा न हो और जैसे वस्त्र में काले

और सफेद धागे आपस में संयुक्त होकर भी जुदे जुदे ही रहते हैं वैसे ही यदि परमाणु भी रहे तो कभी भी स्कन्ध नहीं बन सकता। अतः बंध होने पर अधिक गुणवाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रूप रस आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है। इसी से बंधने वाले परमाणुओं में दो गुण का अंतर रखा। इससे अधिक अंतर होने से एक परमाणु दूसरे में विलय तो हो सकता हैं किन्तु फिर तीसरी अवस्था पैदा न हो सकती, क्योंकि अल्प गुण वाला अपने से अधिक गुण वाले पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। इसी तरह अन्तर न रखने से भी दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप न परिणमा कर अलग अलग ही रह जाते॥३७॥

अब दूसरी तरह से द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम्॥३८॥

अर्थ : जिसमें गुण और पर्याय पाई जाती है उसे द्रव्य कहते हैं।

विशेषार्थ : द्रव्य में अनेक परिणमन होने पर भी जो द्रव्य से भिन्न नहीं होता, सदा द्रव्य के साथ ही रहता है वह गुण है। इसी से गुण को अन्वयी कहा गया है। और जो द्रव्य में आती जाती रहती है वह पर्याय है इसी से पर्याय को व्यतिरेकी कहा है। गुण पर्याय रूप ही द्रव्य है। जैसे, ज्ञान आदि जीव के गुण हैं और रूप आदि पुद्गल के गुण हैं। न ज्ञान जीव को छोड़कर रह सकता है और न रूप आदि गुण पुद्गल को छोड़कर रह सकते हैं। हाँ, ज्ञान गुणों में भी परिणमन होता है जैसे घटज्ञान, पटज्ञान। और रूप आदि में भी परिणमन होता है। यह परिणमन ही पर्याय है।

पहले द्रव्य का लक्षण सत् कहा था और सत् का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वही सत् है। ऐसा कहा था। यहाँ गुण पर्यायवान को द्रव्य कहा है। इन दोनों लक्षणों में कोई अंतर नहीं है। एक के कहने से दूसरे का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद विनाशशील होती है। यदि द्रव्य में गुण न हो तो वह ध्रौव्य युक्त नहीं हो सकता और यदि पर्याय न हो तो वह उत्पाद व्यययुक्त नहीं हो सकता। अतः जब हम कहते हैं कि द्रव्य ध्रौव्ययुक्त है तो उसका मतलब होता है कि द्रव्य गुणवान् है। और जब उसे उत्पाद विनाश वाला कहते हैं तो उसका मतलब होता है कि वह पर्यायवान है। अतः दोनों लक्षण प्रकारान्तर से एक ही बात को कहते हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि द्रव्य, गुण और पर्याय की सत्ता जुदी जुदी नहीं है किन्तु सबका अस्तित्व अथवा सत्ता एक ही है जो द्रव्य के नाम से कही जाती है। इसी से सत् को द्रव्य कहा है॥३८॥

अब काल द्रव्य को कहते हैं-

कालश्च ।।३९।।

अर्थ : काल भी द्रव्य है।

विशेषार्थ : ऊपर द्रव्य के दो लक्षण बतलाए हैं। वे दोनों लक्षण काल में पाए जाते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है- पहला लक्षण है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाए जाएँ वह द्रव्य है। सो काल द्रव्य में ध्रौव्य पाया जाता है क्योंकि काल का स्वभाव सदा स्थायी है। तथा उत्पाद और व्यय पर के निमित्त से भी होते हैं और स्वनिमित्तक भी होते हैं, क्योकि काल द्रव्य प्रति समय अनन्त पदार्थों के परिणमनन में कारण है अत: कार्य के भेद से कारण में भी प्रति समय भेद होना जरूरी है यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है। तथा काल में अगुरुलघु नाम के गुण भी पाए जाते हैं। उनकी वृद्धि हानि होने की अपेक्षा से उसमें स्वयं भी उत्पाद व्यय प्रति समय होता रहता है। दूसरा लक्षण है जो गुण पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। सो काल द्रव्य में सामान्य गुण भी पाए जाते हैं और विशेष गुण भी पाए जाते हैं। काल द्रव्य समस्त द्रव्यों की वर्तना में हेतु है। यह उसका विशेष गुण है, क्योंकि यह गुण अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता। और अचेतनपना, अमूर्तिकपना, सूक्ष्मपना, अगुरुलघुपना आदि सामान्य गुण हैं जो अन्य द्रव्यों में भी पाए जाते हैं। उत्पाद व्यय रूप पर्याय भी काल में होती है। अत: दोनों लक्षणों से सहित होने के कारण काल भी द्रव्य है। यह काल द्रव्य अमूर्तिक है क्योंकि उसमें रूप रस वगैरह गुण नहीं पाए जाते। तथा ज्ञान दर्शन आदि गुणों से रहित होने से अचेतन है। किन्तु काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, क्योंकि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्नों की राशि की तरह अलग अलग स्थित है। वे आपस में मिलते नहीं हैं। अत: काल द्रव्य काय नहीं है। और प्रत्येक कालाणु एक एक काल द्रव्य है। इससे काल द्रव्य एक नहीं है किन्तु जितने लोकाकाश के प्रदेश है उतने ही काल द्रव्य हैं। अत: काल द्रव्य असंख्यात है और वे निष्क्रिय हैं- एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर नहीं जाते जहाँ के तहाँ ही बने रहते हैं।।३९।।

अब व्यवहार काल का प्रमाण बतलाते हैं-

सोऽनन्तसमयः ।।४०।।

अर्थ : वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है अर्थात् काल के समयों का अंत नहीं है।

विशेषार्थ : भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये व्यवहार काल के भेद हैं। सो वर्तमान काल का प्रमाण तो एक समय है, क्योंकि एक समय के समाप्त होने पर वह भूत हो

जाता है और जो दूसरा समय उसका स्थान लेता है वह वर्तमान कहलाता है किन्तु भूत और भविष्यत् काल अनन्त समय वाला है। इसी से व्यवहार काल को अनन्त समय वाला कहा है। अथवा यह सूत्र मुख्य काल का ही प्रमाण बतलाता है, क्योंकि एक कालाणु अनन्त पर्यायों की वर्तना में कारण है इसलिए उपचार से कालाणु को अनन्त कह सकते हैं। काल के सबसे सूक्ष्म अंश का नाम समय है और समयों के समूह का नाम आवली घड़ी है। वह सब व्यवहार काल है, जो मुख्य काल द्रव्य की ही पर्याय रूप है।।४०।।

अब गुण का लक्षण कहते हैं-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।४१।।

अर्थ : जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं तथा जिनमें अन्य गुण नहीं रहते, उन्हें गुण कहते हैं।

शंका : गुण का यह लक्षण पर्याय में भी पाया जाता है, क्योंकि पर्याय भी द्रव्य के आश्रय से ही रहती है और उसमें गुण भी नहीं रहते। अतः यह लक्षण ठीक नहीं है?

समाधान : गुण तो सदा ही द्रव्य के आश्रय से रहता है, कभी भी द्रव्य को नहीं छोड़ता। किन्तु पर्याय अनित्य होती है एक जाती है दूसरी आती है। अतः गुण का उक्त लक्षण पर्याय में नहीं रहता।।४१।।

अनेक जगह परिणाम शब्द आया है। अतः उसका लक्षण कहते हैं-

तद्भावः परिणामः ।।४२।।

अर्थ : धर्मादि द्रव्य जिस स्वरूप से होते हैं उसे तद्भाव कहते हैं। और उस तद्भाव का ही नाम परिणाम है।

विशेषार्थ : जिस द्रव्य का जो स्वभाव है वही परिणाम है। जैसे धर्म द्रव्य का स्वभाव जीव पुद्गलों की गति में निमित्त होना है। वही तद्भाव है। धर्म द्रव्य का परिणमन सदा उसी रूप में होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी समझ लेना चाहिए।।४२।।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

अजीव तत्त्व का व्याख्यान करके अब आस्रव तत्त्व का कथन करते हैं-

काय-वाङ्‌ मनःकर्मयोगः ।।१ ।।

अर्थ : काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

विशेषार्थ : वास्तव में तो आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होती है उसका नाम योग है। वह योग या तो शरीर के निमित्त से होता है या वचन के निमित्त से होता है अथवा मन के निमित्त से होता है। इसलिए निमित्त के भेद से योग के तीन भेद हो जाते हैं-काययोग, वचन योग और मनोयोग प्रत्येक योग के होने में दो कारण होते हैं-एक अन्तरंग कारण, दूसरा बाह्य कारण। अल्प ज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षयोपशम है और केवल ज्ञानियों में अन्तरंग कारण कर्मों का क्षय है तथा बाह्य कारण वे नो कर्म वर्गणाएँ हैं जिनसे शरीर, वचन और मन की रचना होती है तथा जिन्हें जीव हर समय ग्रहण करता रहता है। अत: वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर सात प्रकार की कार्य वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा की सहायता से जो आत्म प्रदेशों में हलन चलन होता है उसे काययोग कहते हैं। वीर्यान्तराय और मत्यक्षरावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम होने से जब जीव में वाग्लब्धि प्रकट होती है और वह बोलने के लिए तत्पर होता है तब वचन वर्गणा के निमित्त से जो आत्म प्रदेशों में हलन चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं। वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा मनोवर्गणा का आलम्बन पाकर चिन्तन के लिए तत्पर हुए आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होने पर तीनों वर्गणाओं की अपेक्षा से सयोग केवली के आत्मप्रदेशों में जो हलन चलन होता है वह कर्म क्षय निमित्तक योग है। इस तरह योग तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसी से चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोग केवली है। अयोग केवली के तीनों प्रकार की वर्गणाओं का आना रुक जाता है इससे वहाँ योग का अभाव हो जाता है।।१ ।।

यह योग ही आस्रव है -

स आस्रवः ।।२ ।।

अर्थ : यह योग ही आस्रव है। अर्थात् सरोवर में जिस द्वार से पानी आता है वह द्वार पानी के आने में कारण होने से आस्रव कहा जाता है वैसे ही योग के निमित्त से

आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए योग ही आस्रव है। आस्रव का अर्थ 'आगमन' है।

योग के द्वारा जो कर्म आता है वह कर्म दो प्रकार का है-पुण्य कर्म और पाप कर्म। अतः अब यह बताते हैं कि किस योग से किस कर्म का आस्रव होता है।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अर्थ : शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ : किसी के प्राणों का घात करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना आदि अशुभ काययोग हैं झूठ बोलना, कठोर असभ्य वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग हैं। किसी के मारने का विचार करना, किसी से ईर्ष्या रखना आदि अशुभ मनोयोग हैं। इनसे पाप कर्म का आस्रव होता है। तथा प्राणियों की रक्षा करना, हितमित वचन बोलना, दूसरों का भला सोचना आदि शुभ योग हैं। इनसे पुण्य कर्म का आस्रव होता है।

शंका : योग शुभ अशुभ कैसे होता है?

समाधान : शुभ परिणाम से होने वाला योग शुभ है और अशुभ परिणाम से होने वाला योग अशुभ है।

शंका : जो शुभ कर्मों का कारण है वह शुभ योग है और जो पाप कर्मों के आगमन में कारण है वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाए तो क्या हानि है?

समाधान : यदि ऐसा लक्षण किया जाएगा तो शुभ योग का अभाव ही हो जाएगा, क्योंकि आगम में लिखा है कि जीव के आयु कर्म के सिवा शेष सात कर्मों का आस्रव सदा होता रहता है। अतः शुभ योग से भी ज्ञानावरण आदि पाप कर्मों का बंध होता है। इसलिए ऊपर का लक्षण ही ठीक है।

शंका : जब शुभ योग से भी घातिकर्मों का बंध होता है तो सूत्रकार ने ऐसा क्यों कहा कि शुभ योग से पुण्य कर्म का बंध होता है?

समाधान : यह कथन घाति कर्मों की अपेक्षा से नहीं है किन्तु अघाति कर्मों की अपेक्षा से है। अघातिया कर्म के दो भेद हैं पुण्य और पाप। सो उनमें से शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है और अशुभ से पाप कर्म का आस्रव होता है। शुभ योग के होते हुए भी घातिया कर्मों का अस्तित्व रहता है उनका उदय भी होता है उसी से घातिया कर्मों का बंध होता है।॥३॥

आगे स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद कहते हैं-

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

अर्थ : कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव होता है और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

विशेषार्थ : स्वामी के भेद से आस्रव में भेद है। आस्रव के स्वामी दो हैं-एक सकषाय जीव, दूसरे कषाय रहित जीव। जैसे वट आदि वृक्षों की कषाय यानी गोंद वगैरह चिपकाने में कारण होती है उसी तरह क्रोध आदि भी आत्मा से कर्मों को चिपटा देते हैं इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं। तथा जो आस्रव संसार का कारण होता है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जो आस्रव केवल योग से ही होता है उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। इस ईर्यापथ आस्रव के द्वारा जो कर्म आते हैं उनमें एक समय की भी स्थिति नहीं पड़ती, क्योंकि कषाय के न होने से कर्म जैसे ही आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। इसी से कषाय सहित जीवों के जो आस्रव होता है उसका नाम साम्परायिक है क्योंकि वह संसार का कारण है और कषाय रहित जीवों के अर्थात ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक जो आस्रव होता है वह केवल योग से ही होता है इसलिए उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं॥४॥

साम्परायिक आस्रव के भेद कहते हैं-

इन्द्रिय-कषायाव्रतक्रियाः पञ्च-चतुः पञ्च-पञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ : इन्द्रिय पाँच, कषाय चार, अव्रत पाँच, क्रिया पच्चीस, ये सब साम्परायिक आस्रव के भेद हैं।

विशेषार्थ : पाँच इंद्रियाँ पहले कह आए हैं। चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। हिंसा, असत्य, वगैरह पाँच अव्रत आगे कहेंगे। यहाँ पच्चीस क्रियाएँ बतलाते हैं देव, शास्त्र और गुरु की पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओं से सम्यक्त्व की पुष्टि होती है उन्हें सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। कुदेव आदि की पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओं से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है उन्हें मिथ्यात्वक्रिया कहते हैं। काय आदि से गमन आगमन करना प्रयोग क्रिया है। संयमी होते हुए असंयम की ओर अभिमुख होना समादान क्रिया है जो क्रिया ईर्यापथ में निमित्त होती है वह ईर्यापथ क्रिया है॥५॥ क्रोध के आवेश में जो क्रिया की जाती है वह प्रादोषिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसा के उपकरण लेना आधिकारणिकी क्रिया है। जो क्रिया प्राणियों को दुःख पहुँचाती है वह पारितापिकी क्रिया है। किसी की आयु, इंद्रिय, बल आदि प्राणों का वियोग करना यानी जान ले लेना प्राणातिपातिकी क्रिया

है॥१०॥ प्रमादी जीव राग के वश में होकर जो सुंदर रूप को देखने का प्रयत्न करता है वह दर्शन क्रिया है। प्रमाद से आलिंगन करने की भावना स्पर्शन क्रिया है। विषय की नई नई सामग्री जुटाना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष, पशु आदि के उठने बैठने के स्थान पर मल मूत्र आदि करना समन्तानुपातन क्रिया है। बिना देखी बिना साफ की हुई जमीन पर उठना बैठना अनाभोग क्रिया है॥१५॥ दूसरे के करने योग्य काम को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है। जो प्रवृत्ति पाप का कारण है उसमें सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरे के द्वारा किए गए पापों को प्रकट कर देना विदारण क्रिया है। चारित्र मोह के उदय से शास्त्र विहित आवश्यक क्रियाओं को पालने में असमर्थ होने पर उनका अन्यथा कथन करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। शठता अथवा आलस्य से आगम में कही हुई विधि का अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है॥२०॥ छेदन भेदन आदि क्रिया में तत्पर रहना और दूसरा कोई वैसा करता है तो देखकर प्रसन्न होना आरंभ क्रिया है। परिग्रह की रक्षा में लगे रहना परिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन वगैरह के विषय में कपट व्यवहार करना माया क्रिया है। कोई मिथ्यात्व क्रिया करता है हो या दूसरे से कराता हो तो उसकी प्रशंसा करके उसे उस काम में दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयम को घातने वाले कर्म के उदय से संयम का पालन नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है॥२५॥ ये पच्चीस क्रियाएँ हैं जो साम्परायिक आस्रव के कारण हैं॥५॥

सब संसारी जीवों में योग की समानता होते हुए भी आस्रव में भेद होने का हेतु बतलाते हैं-

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-
वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः॥६॥

अर्थ : तीव्र भाव, मंद भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषता से आस्रव में भेद हो जाता है।

विशेषार्थ : क्रोधादि कषायों की तीव्रता को तीव्र भाव कहते हैं। कषायों की मंदता को मंद भाव कहते हैं। अमुक प्राणी को मारना चाहिए ऐसा संकल्प करके उसे मारना ज्ञात भाव है। अथवा प्राणी का घात हो जाने पर यह ज्ञान होना कि मैंने इसे मार दिया यह भी ज्ञात भाव है। मद से या प्रमाद से बिना जाने ही किसी का घात हो जाना अज्ञात भाव है। आस्रव के आधार द्रव्य को अधिकरण कहते हैं और द्रव्य की शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं। इनके भेद से आस्रव में अंतर पड़ जाता है। ये जहाँ जैसे होते हैं वैसा ही आस्रव भी होता है॥६॥

अधिकरण के भेद बतलाते हैं-

अधिकरणं जीवाजीवाः ।।७।।

अर्थ : आस्रव के आधार जीव और अजीव हैं। यद्यपि जीव और अजीव दो ही हैं फिर भी जिस तिस पर्याय से युक्त जीव अजीव ही अधिकरण होते हैं और पर्याय बहुत हैं। इसलिए सूत्र में 'जीवाजीवा:' बहुवचन का प्रयोग किया है।।७।।

अब जीवाधिकरण के भेद कहते हैं-

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।८।।

अर्थ : संरम्भ समारभ्म ये तीन, मन वचन काय ये तीन, कृत-कारित-अनुमोदन ये तीन, क्रोध मान माया और लोभ ये चार, इन सबको परस्पर में गुणा करने से जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ : प्रमादी होकर हिंसा वगैरह करने का विचार करना संरम्भ है। हिंसा वगैरह की साधन सामग्री जुटाना समारम्भ है। हिंसा वगैरह करना आरंभ है। स्वयं करना कृत है। दूसरे से कराना कारित है। कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है। इसमें मूल वस्तु संरम्भ, समारम्भ और आरंभ है। इन तीनों में से प्रत्येक के काय, वचन और मन के भेद से तीन तीन प्रकार हैं। इन तीन तीन प्रकारों में से भी प्रत्येक भेद के कृतकारित और अनुमोदना की अपेक्षा से तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार संरम्भ, समारंभ और आरंभ के नौ-नौ प्रकार हुए। इन नौ नौ प्रकारों में से भी प्रत्येक प्रकार चार कषायों की अपेक्षा चार चार प्रकार का होता है। अत: प्रत्येक के ३६, ३६ भेद होने से तीनों के मिलकर १०८ भेद होते हैं। ये ही जीवाधिकरण के भेद हैं।।८।।

इसके अनन्तर अजीवाधिकरण के भेद कहते हैं-

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्।।९।।

अर्थ : निर्वर्तना के दो भेद, निक्षेप के चार भेद, संयोग के दो भेद और निसर्ग के तीन भेद, ये सब अजीवाधिकरण के भेद हैं।

विशेषार्थ : उत्पन्न करने, रचना करने अथवा बनाने का नाम निर्वर्तना है। उसके दो भेद हैं। मूल गुण निर्वर्तना और उत्तर गुण निर्वर्तना। शरीर, वचन, मन और श्वास निश्वास की रचना करना मूल गुण निर्वर्तना है और लकड़ी वगैरह पर चित्र आदि बनाना उत्तर गुण निर्वर्तना है। निक्षेप नाम रखने का है। उसके चार भेद हैं। बिना देखे वस्तु

को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। दुष्टतावश असावधानी से वस्तु को रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेप है। किसी भय से या किसी अन्य कार्य करने की शीघ्रता से वस्तु को जमीन पर जल्दी से पटक देना सहसा निक्षेप है। और बिना साफ की हुई तथा बिना देखी हुई भूमि में पड़े रहना अना भोग निक्षेप है। अनेक वस्तुओं के मिलाने को संयोग कहते हैं उसके दो भेद हैं शीत और उष्ण उपकरणों को मिला देना या शुद्ध और अशुद्ध उपकरणों को मिलाना उपकरण संयोग है। सचित्त और अचित्त खानपान को एक में मिला देना भक्तपान संयोग है। निसर्ग नाम प्रवृत्ति करने का है। उसके तीन भेद हैं- दुष्टतापूर्वक मन की प्रवृत्ति करना मनोनिसर्ग है। दुष्टतापूर्वक वचन की प्रवृत्ति करना वाग्निसर्ग है और दुष्टतापूर्वक काय की प्रवृत्ति करना काय निसर्ग है॥९॥

इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के आश्रय से ही कर्म का आस्रव होता है। अब सामान्य आस्रव को कहकर विशेष आस्रव का कथन करते हैं। प्रथम ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थ : ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात के करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ : कोई पुरुष मोक्ष के साधन तत्त्वज्ञान का उपदेश करता हो तो मुख से कुछ भी न कहकर हृदय में उससे ईर्ष्या आदि रखना प्रदोष है। अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी किसी के पूछने पर यह कह देना कि मैं नहीं जानता, निह्नव है। अपने को शास्त्र का ज्ञान होते हुए भी दूसरों को इसलिए नहीं देना कि वे जान जाएँगे तो मेरे बराबर हो जाएँगे; मात्सर्य है। किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है। सम्यग्ज्ञान का समादर न करना, उल्टे उसके उपदेष्टा को रोक देना आसादना है और सम्यग्ज्ञान को एकदम झूठा बतलाना उपघात है। इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है॥१०॥

आगे असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य॥११॥

अर्थ : दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन इन्हें स्वयं करने से, दूसरों में करने से तथा दोनों में करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ : पीड़ा रूप परिणाम को दुःख कहते हैं। अपने किसी उपकारी का

वियोग हो जाने पर मन का विकल होना शोक है। लोक में निंदा वगैरह के होने से तीव्र पश्चाताप का होना ताप है। पश्चाताप से दु:खी होकर रोना-धोना आक्रन्दन है। किसी के प्राणों का घात करना वध है। अत्यंत दु:खी होकर ऐसा रुदन करना जिसे सुनकर सुनने वालों के हृदय द्रवित हो जाएँ, परिदेवन है। इस प्रकार के परिणाम जो स्वयं करता है या दूसरों को दु:खी करता या रुलाता है अथवा स्वयं भी दु:खी होता है और दूसरों को भी दु:खी करता है, उसके असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

शंका : यदि स्वयं दु:ख उठाने और दूसरों को दु:ख में डालने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है तो तीर्थंकरों ने केशलोंच, उपवास तथा धूप वगैरह में खड़े होकर तपस्या क्यों की और क्यों दूसरों को वैसा करने का उपदेश दिया? क्योंकि ये सब बातें दु:ख देने वाली हैं।

समाधान : क्रोध आदि कषाय के आवेश में आकर जो दु:ख स्वयं उठाया जाता है अथवा दूसरों को दिया जाता है उससे असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। जैसे एक दयालु डॉक्टर किसी रोगी का फोड़ा चीरता है। फोड़ा चीरने से रोगी को बड़ा कष्ट होता है। फिर भी डॉक्टर को उससे पाप बंध नहीं होता; क्योंकि उसका प्रयत्न तो रोगी का कष्ट दूर करने के लिए ही है। इसी तरह तीर्थंकर भी संसार के दु:खों से त्रस्त जीवों के कल्याण की भावना से ही उन्हें मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं। अत: उन्हें असाता का आस्रव नहीं होता॥११॥

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्वेद्यस्य॥१२॥

अर्थ : प्राणियों पर और व्रती पुरुषों पर दया करना यानी उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझना, दूसरों के कल्याण की भावना से दान देना, राग सहित संयम का पालना, आदि शब्द से संयमा संयम, (एक देश संयम का पालना), अकाम निर्जरा (अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर जो कष्ट उठाना पड़े, उसे शान्ति के साथ सहन करना), बालतप (आत्म ज्ञान रहित तपस्या करना), इनको मनोयोग पूर्वक करना, क्षान्ति (क्षमा भाव रखना), शौच (सब प्रकार के लोभ को छोड़ना) इस प्रकार के कामों से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि यद्यपि प्राणियों में व्रती भी आ जाते हैं फिर भी जो व्रतियों का अलग ग्रहण किया है सो उनकी ओर विशेष लक्ष्य दिलाने के उद्देश्य से किया है॥१२॥

आगे दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ : केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवों को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोह का आस्रव होता है।

विशेषार्थ : जिनका ज्ञान पूरा प्रकट होता है उन अर्हन्त भगवान को केवली कहते हैं। अर्हन्त भगवान भूख प्यास आदि दोषों से रहित होते हैं। अत: यह कहना कि वे हम लोगों की तरह ही ग्रासाहार करते हैं और उन्हें भूख प्यास की बाधा सताती है आदि उनको झूठा दोष लगाना है। उन केवली के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उसे याद रखकर गणधर जो ग्रंथ रचते हैं उन्हें श्रुत कहते हैं। उस श्रुत में मांस भक्षण का विधान है ऐसा कहना श्रुत को झूठा दोष लगाना है। रत्नत्रय के धारी जैन श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं। वे जैन साधु नंगे रहते हैं, स्नान नहीं करते। अत: उन्हें शूद्र, निर्लज्ज, अपवित्र आदि कहना संघ को झूठा दोष लगाना है। जिन भगवान के द्वारा कहा हुआ जो अहिंसामयी धर्म है उसकी निंदा करना धर्म में झूठा दोष लगाना है। देवों को मांस भक्षी, मदिरा प्रेमी, परस्त्रीगामी आदि कहना देवों में झूठा दोष लगाना है। इन कामों से दर्शन मोह का आस्रव होता है॥१३॥

आगे चारित्र मोह के आस्रव का कारण कहते हैं-

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य॥१४॥

अर्थ : कषाय के उदय से परिणामों में कलुषता के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है॥१४॥

इसके बाद आयु कर्म के आस्रव के कारण बतलाते हुए पहले नरकायु के आस्रव के कारण कहते हैं-

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः॥१५॥

अर्थ : बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव के कारण हैं॥१५॥

तिर्यंच आयु के आस्रव के कारण कहते हैं-

माया तैर्यग्योनस्य॥१६॥

अर्थ : मायाचार तिर्यंच आयु के आस्रव का कारण है॥१६॥

मनुष्यायु के आस्रव के कारण कहते हैं-

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य॥१७॥

अर्थ : थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु के आस्रव का कारण है॥१७॥

मनुष्यायु के आस्रव के और भी कारण हैं-

स्वभावमार्दवञ्च ॥१८॥

अर्थ : स्वभाव से ही परिणामों का कोमल होना भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है॥१८॥

और भी विशेष कहते हैं-

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम्॥१९॥

अर्थ : यहाँ 'च' शब्द से थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह लेना चाहिए। अतः थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह होने से तथा शील और व्रतों का पालन न करने से चारों ही आयु का आस्रव होता है।

शंका : क्या देवायु का भी आस्रव होता है?

समाधान : हाँ, होता है। भोगभूमियाँ जीवों के व्रत और शील नहीं है फिर भी उनके देवायु का ही आस्रव होता है॥१९॥

देवायु के आस्रव के कारण कहते हैं-

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा- बालतपांसि दैवस्य॥२०॥

अर्थ : सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप, ये देवायु के आस्रव के कारण हैं। राग पूर्वक संयम के पालने को सराग संयम कहते हैं। त्रस हिंसा का त्याग करने और स्थावर हिंसा के त्याग न करने को संयमासंयम कहते हैं। पराधीनता वश जेलखाने वगैरह में इच्छा न होते हुए भी भूख-प्यास वगैरह के कष्ट को शांतिपूर्वक सहना अकाम निर्जरा है। आत्म ज्ञान रहित तप को बाल तप कहते हैं। इनसे देवायु का आस्रव होता है॥२०॥

देवायु के आस्रव का और भी कारण है-

सम्यक्त्वंञ्च॥२१॥

अर्थ : सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है। यहाँ यद्यपि यह नहीं कहा है कि सम्यक्त्व अमुक देवायु का कारण है, फिर भी अलग सूत्र बनाने से यह अर्थ निकलता है कि सम्यक्त्व से वैमानिक देवों की आयु का आस्रव होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भवनत्रिक में जन्म नहीं लेता।

शंका : तो क्या सरागसंयम आदि सूत्र में जो देवायु के आस्रव के कारण बतलाए हैं वे सब प्रकार की देवायु के आस्रव के कारण हैं? यदि ऐसा है तब तो सराग संयम और संयमासंयम भी भवनवासी, आदि देवों की आयु के कारण हुए?

समाधान : नहीं हुए, क्योंकि बिना सम्यक्त्व के सराग संयम और संयमासंयम नहीं होते। अत: जब सम्यक्त्व वैमानिक देवायु का कारण है तो दोनों भी उसी के कारण हुए॥२१॥

इसके बाद नाम कर्म के आस्रव के कारण बतलाते हुए पहले अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं-

योगवक्रता-विसंवादनचांशुभस्य नाम्नः॥२२॥

अर्थ : मन, वचन और काय की कुटिलता से तथा किसी को धर्म के मार्ग से छुड़ाकर अधर्म के मार्ग में लगाने से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

शंका : योगवक्रता और विसंवादन में क्या अंतर है?

समाधान : जो मनुष्य किसी को धोखा देता है उसमें तो योग वक्रता होती है तभी तो वह दूसरे को धोखा देता है और दूसरे को धोखा देना विसंवादन है। अर्थात् दोनों में एक कारण है, दूसरा कार्य है॥२२॥

शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं-

तद्विपरीतं शुभस्य॥२३॥

अर्थ : जो अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण कहे हैं उनसे उल्टे शुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं। अर्थात् मन वचन और काय की सरलता से और किसी को धोखा न देने से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है॥२३॥

नाम कर्म के भेदों में एक तीर्थंकर नाम कर्म है। उसका आस्रव कुछ विशेष कारणों से होता है। अतः उसे अलग से बतलाते हैं-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग- संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधि-वैयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्व-मिति तीर्थकरत्वस्य॥२४॥

अर्थ : दर्शन विशुद्धि (भगवान अर्हंत देव के द्वारा कहे गए निर्ग्रन्थता रूप मोक्ष मार्ग में आठ अंग सहित रुचि का होना), विनय सम्पन्नता (मोक्ष के साधन सम्यग्ज्ञान वगैरह का और सम्यग्ज्ञान के साधन गुरु वगैरह का आदर सत्कार करना), शीलव्रतेषु-अनतिचार (अहिंसा आदि व्रतों का और व्रतों का पालन करने के लिए बतलाए गए

शीलों का अतिचार रहित पालन करना), अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (सदा सम्यग्ज्ञान के पठन-पाठन में लगे रहना),संवेग (संसार के दु:खों से सदा उद्विग्न रहना), शक्तित: त्याग (शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक दान देना), शक्तित: तप (अपनी शक्ति के अनुसार जैन मार्ग के अनुकूल तपस्या करना), साधु समाधि (तपस्वी मुनि के तप में किसी कारण से कोई विघ्न आ जाए तो उसे दूर करके उनके संयम की रक्षा करना), वैयावृत्यकरण (गुणवान साधुजनों पर विपत्ति आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना), अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति (अर्हन्त देव आचार्य उपाध्याय और आगम के विषय में विशुद्ध भाव पूर्वक अनुराग होना), आवश्यकापरिहाणि (सामायिक), स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक कर्मों में कभी हानि न आने देना और प्रतिदिन नियत समय पर उन्हें बराबर करना) मार्ग प्रभावना (सम्यग्ज्ञान के द्वारा, तप के द्वारा या जिन पूजा के द्वारा जगत में जैन धर्म का प्रकाश फैलाना), प्रवचन वत्सलत्व (जैसे गौ को अपने बच्चे से सहज स्नेह होता है, वैसे ही साधर्मी जन को देखकर चित्त का प्रफुल्लित हो जाना) ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव में कारण हैं। इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव होता है किंतु उनमें एक दर्शनविशुद्धि का होना आवश्यक है।।२४।।

नीच गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं-

परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।२५।।

अर्थ : दूसरों की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के मौजूदा गुणों को भी ढाँकना और अपने में गुण नहीं होते हुए भी उनको प्रकट करना, ऐसे भावों से नीच गोत्र का आस्रव होता है।।२५।।

इसके बाद उच्च गोत्र के आस्रव के कारण कहते हैं-

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।२६।।

अर्थ : नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारणों से तथा नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक से उच्च गोत्र का आस्रव होता है। अर्थात् दूसरों की प्रशंसा करना और असमीचीन गुणों को ढाँकना किंतु अपने समीचीन गुणों को भी प्रकट न करना, गुणीजनों के सामने विनय से नम्र रहना और उत्कृष्ट ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी घमंड का न होना, ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।।२६।।

क्रम प्राप्त अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण कहते हैं-

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।२७।।

अर्थ : दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् दान देने में विघ्न करने से दानान्तराय कर्म का आस्रव होता है। किसी के लाभ में बाधा डालने से लाभान्तराय कर्म का आस्रव होता है। इसी तरह शेष में भी जानना चाहिए।

शंका : आगम में कहा है कि जीव के आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का आस्रव सदा होता रहता है। तब प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्म का ही आस्रव कैसे हो सकता है?

समाधान : यद्यपि प्रदोष आदि से ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों का प्रदेश बंध होता है। अर्थात् प्रदोष आदि से एक समय में जिस समय प्रबद्ध का आस्रव होता है उसके परमाणु आयु के सिवा शेष सातों कर्मों में बँट जाते हैं, तथापि यह कथन अनुभाग की अपेक्षा से है। अर्थात् प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है, दु:ख देने से असाता वेदनीय कर्म में फल देने की शक्ति अधिक पड़ती है। वैसे बंध सातों ही कर्मों का होता है।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ।।६ ।।

❋ ❋ ❋

अथ सप्तमोऽध्यायः

आस्रव तत्त्व का कथन हो चुका। उसमें पुण्य कर्म के आस्रव का मामूली सा कथन किया था। इस अध्याय में उसका विशेष कथन करने के लिए व्रत का स्वरूप बतलाते हैं-

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्॥१॥

अर्थ : हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होने को व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ : हिंसा आदि पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं। इन पाँच पापों का स्वरूप आगे बतलाएँगे। उनको त्यागने से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत होते हैं। इन सबमें प्रधान अहिंसा व्रत है। इसी से उसे सब व्रतों के पहले रखा है। शेष चारों व्रत तो उसी की रक्षा के लिए है। जैसे खेत में धान बोने पर उसकी रक्षा के लिए चारों ओर बाड़ा लगा देते हैं वैसे ही सत्य आदि चार व्रत अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए बाड़ रूप हैं।

शंका : इन व्रतों को आस्रव का हेतु बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि आगे नौवें अध्याय में संवर के कारण बतलाएँगे। उनमें जो दश धर्म हैं उन दश धर्मों में से संयम धर्म में व्रतों का अन्तर्भाव होता है। अतः व्रत संवर के कारण हैं आस्रव के कारण नहीं हैं?

समाधान : यह ठीक नहीं है, संवर तो निवृत्ति रूप होता है, उसका कथन आगे किया जाएगा। और ये व्रत निवृत्ति रूप नहीं हैं किंतु प्रवृत्ति रूप हैं। क्योंकि इनमें हिंसा, झूठ, चोरी, वगैरह को त्यागकर अहिंसा के पालन का, सच बोलने का, दी गई उपयुक्त वस्तुओं को ही लेने का विधान है। तथा जो इन व्रतों का अच्छी तरह से अभ्यास कर लेता है वही संवर को आसानी से कर सकता है। अतः व्रतों को अलग गिनाया है॥१॥

अब व्रतों के भेद बतलाते हैं-

देश-सर्वतोऽणु-महती॥२॥

अर्थ : इन पाँचों पापों को एक देश त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं और पूरी तरह से त्याग करने को महाव्रत कहते हैं॥२॥

इन व्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक भावनाओं को बतलाते हैं-

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च॥३॥

अर्थ : इन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं।

उन भावनाओं का सदा ध्यान रहने से व्रत दृढ़ हो जाते हैं॥३॥

सर्वप्रथम अहिंसा व्रत की भावनाएँ कहते हैं-

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पञ्च॥४॥

अर्थ : वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित पानभोजन ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ : वचन की प्रवृत्ति को अच्छी रीति से रोकना वचन गुप्ति है। मन की प्रवृत्ति को अच्छी रीति से रोकना मनोगुप्ति है। पृथ्वी को देखकर सावधानीपूर्वक चलना ईर्या समिति है। सावधानतापूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देख भाल कर खाना-पीना आलोकित पान-भोजन है। इन पाँच बातों का ध्यान अहिंसा व्रती को रखना चाहिए॥४॥

दूसरे सत्यव्रत की भावनाएँ कहते हैं-

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पंच॥५॥

अर्थ : क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हँसी दिल्लगी का त्याग और हित मित वचन बोलना, ये पाँच सत्य व्रत की भावना है। आशय यह है कि मनुष्य क्रोध से, लालच से, भय से और हँसी करने के लिए झूठ बोलता है। अत: इनसे बचते रहना चाहिए और जब बोले तो सावधानी से बोले जिससे कोई बात ऐसी न निकल जाए जो दूसरे को कष्टकर हो॥५॥

तीसरे अचौर्य व्रत की भावनाएँ कहते हैं-

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पंच॥६॥

अर्थ : शून्यागार अर्थात् पर्वत की गुफा, वन और वृक्षों के कोटरों में निवास करना, विमोचितावास अर्थात् दूसरों के छोड़े हुए ऊजड़ स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात् जहाँ आप ठहरे वहाँ यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे रोकना नहीं और जहाँ कोई पहले से ठहरा हो तो उसे हटाकर स्वयं ठहरे नहीं, भैक्ष्य शुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त रीति से शुद्ध भिक्षा लेना और सधर्मा विसंवाद अर्थात् साधर्मी भाइयों से वाद-विवाद नहीं करना ये पाँच अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं॥६॥

इसके बाद ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ कहते हैं-

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥७॥

अर्थ : स्त्रियों के विषय में राग उत्पन्न करने वाली कथा को न सुनना, स्त्रियों के मनोहर अंगों को न ताकना, पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना, कामोद्दीपन करने वाले रसों का सेवन न करना और अपने शरीर को इत्र तेल वगैरह से न सजाना, ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं॥७॥

अंत में परिग्रह त्याग व्रत की भावना कहते हैं-

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पंच ॥८॥

अर्थ : पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों से राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों से द्वेष नहीं करना ये पाँच परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ हैं॥८॥

जैसे इन व्रतों को दृढ़ करने के लिए भावनाएँ कही हैं वैसे ही इन व्रतों के विरोधी जो हिंसा आदि हैं उनसे विमुख करने के लिए भी भावनाएँ कहते हैं-

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थ : हिंसा आदि पाँच पाप इस लोक और परलोक में विनाशकारी तथा निंदनीय हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।

विशेषार्थ : अर्थात् हिंसा के विषय में विचारना चाहिए कि जो हिंसा करता है लोग उसकी निंदा करते हैं। इस लोक में उसे फाँसी वगैरह होती है और मरकर वह नरक आदि में दुःख भोगता है। अतः हिंसा से बचना ही श्रेष्ठ है। इसी तरह झूठ बोलने वाले का कोई विश्वास नहीं करता। इसी लोक में पहले राजा उसकी जीभ कटा लेता था। तथा उसके झूठ बोलने से जिन लोगों को कष्ट पहुँचता है वे भी उसके दुश्मन हो जाते हैं और उसे भरसक कष्ट देते हैं तथा मरकर वह अशुभ गति में जन्म लेता है। अतः झूठ बोलने से बचना ही उत्तम है। इसी तरह चोर का सब तिरस्कार करते हैं। इसी लोक में उसे राजा की ओर से कठोर दंड मिलता है तथा मरकर भी अशुभ गति में जाता है। अतः चोरी से बचना ही उत्तम है तथा व्याभिचारी मनुष्य का चित्त सदा भ्रान्त रहता है। जैसे जंगली हाथी हाथिनी के धोखे में पड़कर पकड़ा जाता है वैसे ही व्याभिचारी भी जब पकड़ा जाता है तो उसकी पूरी दुर्गति लोग कर डालते हैं। पुराने जमाने में तो ऐसे अदामी का लिंग ही काट डाला जाता था। आजकल भी उसे कठोर दंड मिलता है। मरकर भी वह दुर्गति में जाता है। अतः व्याभिचार से बचना ही हितकर है। तथा जैसे कोई पक्षी मांस का टुकड़ा लिए हो तो अन्य पक्षी उसके पीछे पड़ जाते हैं, वैसे ही परिग्रही मनुष्य के पीछे चोर लगे रहते हैं। उसे धन के कमाने, जोड़ने और उसकी

रखवाली करने में भी कम कष्ट नहीं उठाना पड़ता। फिर भी उसकी तृष्णा कभी शांत नहीं होती, तृष्णा के वशीभूत होकर उसे न्याय अन्याय का ध्यान नहीं रहता। इसी से मरकर वह दुर्गति में जाता है। यहाँ भी लोभी लोभी कहकर लोग उसकी निंदा करते हैं। अतः परिग्रह से बचना ही श्रेष्ठ है। इस तरह हिंसा आदि पापों की बुराई भी सोचते रहना चाहिए।।९।।

और भी कहते हैं-

दुःखमेव वा।।१०।।

अर्थ : हिंसा आदि पाप दुःख रूप ही हैं ऐसी भावना रहना चाहिए। क्योंकि हिंसादि दुःख के कारण हैं इसलिए दुःख रूप ही हैं।।१०।।

इसके सिवा अन्य भावनाएँ भी बताते हैं-

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु।।११।।

अर्थ : समस्त प्राणियों में ऐसी (मैत्री) भावना रखना चाहिए कि किसी भी प्राणी को दुःख न हो। गुणवान पुरुषों को देखकर हर्षित होना चाहिए और अपनी भक्ति प्रकट करना चाहिए। दुःखी प्राणियों को देखकर उनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। और जो उद्धत लोग हैं उनमें माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से अहिंसा आदि व्रत परिपूर्ण होते हैं।।११।।

अन्य भावनाओं का निर्देश करते हैं-

जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्।।१२।।

अर्थ : संवेग और वैराग्य के लिए जगत का और शरीर का स्वभाव विचारते रहना चाहिए।

विशेषार्थ : यह लोक अनादि-निधन है। वेत के आसन के ऊपर एक गोल झाँझ रखो और उस पर एक मृदंग खड़ा करो, ऐसा ही लोक का आकार है। इसमें भटकते हुए जीव अनंत काल से नाना योनियों में दुःख भोग रहे हैं। यहाँ कुछ भी नियत नहीं है। जीवन जल के बुलबुले के समान है, भोग सम्पदा बिजली की तरह चंचल है। इस तरह जगत का स्वभाव विचारने से संसार से अरुचि पैदा होती है। इसी तरह यह शरीर अनित्य है, दुःख का कारण है, निःसार है, अपवित्र है, इत्यादि काय का स्वरूप विचारने से विषयों में राग नहीं होता। अतः व्रती को जगत का और काय का स्वभाव भी विचारते रहना चाहिए।।१२।।

अब हिंसा का लक्षण कहते हैं-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा॥१३॥

अर्थ : प्रमादीपने से प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं।

विशेषार्थ : हिंसा दो प्रकार की है- एक द्रव्य हिंसा, दूसरी भाव हिंसा। संसार में सर्वत्र जीव पाए जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं। किंतु उनके मर जाने से ही हिंसा नहीं हो जाती। इसी से सूत्र में 'प्रमत्त योगात्' पद दिया है। यह बतलाता है कि जो मनुष्य जीवों की हिंसा करने के भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचाने के भाव रखता है, उसके द्वारा जो हिंसा होती है उसका पाप उसे नहीं लगता। इसी से कहा है कि 'प्राणों का घात कर देने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता'। शास्त्रकारों ने इस बात को एक दृष्टांत के द्वारा और भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं- 'एक मनुष्य देख देख कर चल रहा है। उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु उसके पैर के नीचे अचानक आ जाता है और कुचलकर मर जाता है तो उस मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता।' इसके विपरीत यदि कोई असावधानी से मार्ग में चलता है तो उसके द्वारा किसी जीव का घात हो या न हो, उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। जैसा कि कहा है- 'जीव जिये या मरे जो अत्याचारी है उसे हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किंतु जो यत्नाचार से काम करता है उसे हिंसा होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता।' अतः हिंसा रूप परिणाम ही वास्तव में हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसा के साथ संबंध है। किंतु द्रव्य हिंसा के होने पर भाव हिंसा का होना अनिवार्य नहीं है। जैनेतर धर्मों में द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को अलग-अलग न मानने से ही निम्न शंका की गई है कि जल में जंतु हैं, थल में जंतु हैं और पहाड़ की चोटी पर चले जाओ तो वहाँ भी जंतु हैं। इस तरह जब समस्त लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तो कोई अहिंसक कैसे हो सकता है।' जैन धर्म में इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है- 'जीव दो प्रकार के होते हैं, सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म तो न किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं अतः उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं। रहे स्थूल, सो जिनकी रक्षा करना संभव है उनकी रक्षा की जाती है। अतः संयमी पुरुष को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है'॥१३॥

अनृत का लक्षण कहते हैं-

असदभिधानमनृतम्॥१४॥

अर्थ : जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, वह बात सच्ची हो अथवा झूठी हो, उसका कहना अनृत अथवा असत्य है। जैसे काने मनुष्य को काना कहना झूठ नहीं है

फिर भी इससे उसको पीड़ा पहुँचती है, इसलिए ऐसा कहना असत्य ही है। आशय यह है तथा जैसा पहले ही लिख आए हैं कि प्रधान व्रत अहिंसा है। बाकी के चार व्रत उसी के पोषण और रक्षण के लिए हैं। अतः जो वचन हिंसाकारक है वह असत्य है॥१४॥

क्रम प्राप्त चोरी का लक्षण कहते हैं-

अदत्तादानं स्तेयम्॥१५॥

अर्थ : बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है। यहाँ भी 'प्रमत्त योगात्' इत्यादि सूत्र से 'प्रमत्तयोग' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः बुरे भाव से जो पराई वस्तु को उठा लेने में प्रवृत्ति की जाती है वह चोरी है। उस प्रवृत्ति के बाद चाहे कुछ हाथ लगे या न लगे, हर हालत में उसे चोरी ही कहा जाएगा॥१५॥

इसके बाद अब्रह्म का लक्षण बतलाते हैं-

मैथुनमब्रह्म॥१६॥

अर्थ : चारित्र मोहनीय का उदय होने पर राग भाव से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष का जोड़ा जो रति सुख के लिए चेष्टा करता है उसे मैथुन कहते हैं। और मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। कभी कभी दो पुरुषों में अथवा दो स्त्रियों में भी इस प्रकार की कुचेष्टा देखी जाती है। और कभी कभी अकेला एक पुरुष ही काम से पीड़ित होकर कुचेष्टा कर बैठता है। वह सब अब्रह्म है। जिसके पालन से अहिंसा आदि धर्मों की वृद्धि होती है उसे ब्रह्म कहते हैं। और ब्रह्म का नहीं होना अब्रह्म है। यह अब्रह्म सब पापों का पोषक है क्योंकि मैथुन करने वाला हिंसा करता है, उसके लिए झूठ बोलता है, चोरी करता है और विवाह करके गृहस्थी बसाता है॥१६॥

अब परिग्रह का लक्षण कहते हैं-

मूर्छा परिग्रहः॥१७॥

अर्थ : बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन अचेतन वस्तुओं में तथा आंतरिक राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों में जो ममत्व भाव है, कि ये मेरे हैं, इस भाव का नाम मूर्छा है और मूर्छा ही परिग्रह है। वास्तव में अभ्यन्तर ममत्व भाव ही परिग्रह है क्योंकि पास में एक पैसा न होने पर भी जिसे दुनिया भर की तृष्णा है वह परिग्रही है। बाह्य वस्तुओं को तो इसलिए परिग्रह कहा है कि वे ममत्व भाव के होने में कारण होती हैं।

अब व्रती का स्वरूप कहते हैं-

निःशल्यो व्रती॥१८॥

अर्थ : जो शल्य रहित हो उसे व्रती कहते हैं।

विशेषार्थ : शरीर में घुसकर तकलीफ देने वाले कील काँटे आदि को शल्य कहते हैं। जैसे कील काँटा कष्ट देता है वैसे ही कर्म के उदय से होने वाला विचार भी जीव को कष्टदायक है इसलिए उसे शल्य नाम दिया है। वह शल्य तीन है- माया, मिथ्यात्व और निदान। मायाचार या धूर्तता को माया कहते हैं। मिथ्या तत्त्वों का श्रद्धान करना कुदेवों को पूजना मिथ्यात्व है। और विषय भोग की चाह को निदान कहते हैं। जो इन तीनों शल्यों को हृदय से निकाल कर व्रतों का पालन करता है वही व्रती है। किंतु जो दुनिया को ठगने के लिए व्रत लेता है या व्रत लेकर यह सोचता रहता है कि व्रत धारण करने से मुझे भोगने के लिए अच्छी-अच्छी देवांगनाएँ मिलेंगी, या जो व्रत लेकर भी मिथ्यात्व में पड़ा है वह कभी भी व्रती नहीं हो सकता॥१८॥

आगे व्रती के भेद बतलाते हैं-

अगार्यनगारश्च॥१९॥

अर्थ : व्रती के दो भेद हैं- एक अगारी यानी गृहस्थ श्रावक और दूसरा अनगारी यानी गृह त्यागी साधु।

शंका : एक साधु किसी देवालय में या खाली पड़े घर में आकर ठहर गए तो वे अगारी हो जाएँगे। और एक गृहस्थ अपनी स्त्री से झगड़कर जंगल में जा बसा तो वह अनगारी कहलाएगा?

समाधान : अगार यद्यपि मकान को कहते हैं किंतु यहाँ बाहरी मकान न लेकर मानसिक मकान लेना चाहिए। अत: जिस मनुष्य के मन में घर बसाकर रहने की भावना है वह भले ही जंगल में चला जाए, अगारी ही कहा जाएगा। और जिसके मन में वैसी भावना नहीं है वह कुछ समय के लिए किसी मकान में ठहरने पर भी अगारी नहीं कहा जाएगा॥१९॥

क्रमशः अगारी व्रती का स्वरूप बतलाते हैं-

अणुव्रतोऽगारी॥२०॥

अर्थ : जो पाँचों पापों का एक देश से त्याग करता है उस अणुव्रती को अगारी कहते हैं। अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा करने का त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। राग, द्वेष अथवा मोह के वशीभूत होकर ऐसा वचन न बोलना जिससे किसी का घर बर्बाद हो जाए या गाँव पर मुसीबत आ जाए, दूसरा अणुव्रत है। जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे अथवा जिसमें राजदंड का भय हो ऐसी बिना दी हुई वस्तु को न लेने का त्याग तीसरा अणुव्रत है। विवाहित या अविवाहित पर स्त्री के साथ भोग का त्याग चौथा अणुव्रत है। धन,धान्य, जमीन-जायदाद वगैरह का आवश्यकता के अनुसार एक प्रमाण निश्चित

कर लेना पाँचवाँ अणुव्रत है। इन पाँच अणुव्रतों को जो नियमपूर्वक पालता है वही अगारी व्रती है॥२०॥

अगारी व्रती के जो और व्रत हैं उन्हें कहते हैं-

दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च॥२१॥

अर्थ : दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग इन सात व्रतों से सहित गृहस्थ अणुव्रती होता है।

विशेषार्थ : पूर्व आदि दिशाओं में नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बाँधकर जीवन पर्यंत उससे बाहर न जाना और उसी के भीतर लेन-देन करना दिग्विरति व्रत है। इस व्रत के पालने से गृहस्थ मर्यादा के बाहर किसी भी तरह की हिंसा नहीं करता। इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह महाव्रती सा हो जाता है तथा मर्यादा के बाहर व्यापार करने से प्रभूत लाभ होने पर भी व्यापार नहीं करता है। अतः लोभ की भी कमी होती है। दिग्विरति व्रत की मर्यादा के भीतर कुछ समय के लिए देश का परिमाण कर लेने को देश-विरति व्रत कहते हैं। इसमें भी उतने समय के लिए श्रावक मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में महाव्रती के तुल्य हो जाता है जिससे अपना कुछ लाभ तो न हो और व्यर्थ ही पाप का संचय होता हो ऐसे कामों को अनर्थदंड कहते हैं और उनके त्याग को अनर्थ दंड विरति कहते हैं। अनर्थ दंड के पाँच भेद हैं- अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान और अशुभश्रुति। दूसरों का बुरा विचारना कि अमुक की हार हो, अमुक को जेलखाना हो जाए, उसका लड़का मर जाए, यह सब अपध्यान है। दूसरों को पाप का उपदेश देना यानी ऐसे व्यापार की सलाह देना जिससे प्राणियों को कष्ट पहुँचे अथवा युद्ध वगैरह के लिए प्रोत्साहन मिले, पापोपदेश है। बिना जरूरत के जंगल कटवाना, जमीन खुदवाना, पानी खराब करना आदि प्रमादाचरित है। विषैली गैस, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसा की सामग्रीदेना हिंसादान है। हिंसा और राग आदि की बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना, सुनाना आदि अशुभ श्रुति है। इस प्रकार के अनर्थ दंडों का त्याग करना अनर्थ दंड विरति है। तीनों संध्याओं में समस्त पाप के कर्मों से विरत होकर नियत स्थान पर नियत समय के लिए मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। जितने समय तक गृहस्थ सामायिक करता है उतने समय के लिए वह महाव्रती के समान हो जाता है। प्रोषध नाम पर्व का है और जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषय से निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध

अर्थात् पर्व के दिन उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। मोटे तौर पर तो चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है किंतु यथार्थ में तो सभी इन्द्रियों का विषय भोग से निवृत्त रहना ही उपवास है। इसी के लिए भोजन का त्याग किया जाता है। अत: उपवास के दिन श्रावक को सब आरंभ छोड़कर और स्नान, तेल, फुलेल, आदि न लगाकर चैत्यालय में अथवा साधुओं के निवास स्थान पर या अपने ही घर के किसी एकान्त स्थान पर धर्म चर्चा करते हुए उपवास का समय बिताना चाहिए। खानपान, गंध माला वगैरह को उपभोग कहते हैं और वस्त्र आभरण अलंकार, सवारी, मकान वगैरह को परिभोग कहते हैं। कुछ समय के लिए अथवा जीवन पर्यंत के लिए उपभोग और परिभोग का परिमाण करना कि मैं इतने समय तक इतनी वस्तुओं से ही अपना काम चलाऊँगा, यह उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है। जो अपने संयम की रक्षा करते हुए विहार करता है उसे अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके आने का कोई दिन निश्चित नहीं होता है वह अतिति है। मोक्ष के लिए तत्पर संयमी अतिथि को शुद्ध चित्त से निर्दोष भिक्षा देना अतिथि संविभाग व्रत है। ऐसे अतिथियों को आवश्यकता पड़ने पर योग्य औषध देना, रहने को स्थान देना, धर्म के उपकरण पिच्छी कमंडलु और शास्त्र वगैरह देना भी इसी व्रत में सम्मिलित है। इस सूत्र में 'च' शब्द गृहस्थ के आगे कहे जाने वाले सल्लेखना धर्म को ग्रहण करने के लिए दिया है॥२१॥

अतः सल्लेखना का निरूपण करते हैं-

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥२२॥

अर्थ : मरण काल उपस्थित होने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना करना चाहिए।

विशेषार्थ : सम्यक् रीति से काय को और कषाय को क्षीण करने का नाम सल्लेखना है। जब मरण काल उपस्थित हो तो गृहस्थ को सबसे मोह छोड़कर धीरे-धीरे खाना-पीना भी छोड़ देना चाहिए और इस तरह शरीर को कृश करने के साथ ही कषायों को भी कृश करना चाहिए तथा धर्मध्यान पूर्वक मृत्यु का स्वागत करना चाहिए।

शंका : इस तरह जान-बूझकर मौत को बुलाना क्या आत्मवध नहीं कहा जाएगा?

समाधान : नहीं, जब मनुष्य या स्त्री रागवश या द्वेष वश जहर खाकर, कुएँ में या नदी में डूबकर या फाँसी लगाकर अपना घात करते हैं तब आत्मघात होता है। किंतु सल्लेखना में यह बात नहीं है। जैसे कोई व्यापारी नहीं चाहता कि जिस घर में बैठकर वह सुबह से शाम तक धनसंचय करता है वह नष्ट हो जाए। यदि उसके घर में आग लग जाती है तो भरसक उसको बुझाने की चेष्टा करता है। किंतु जब देखता है कि घर को बचाना असंभव है तो फिर घर की परवाह न करके धन को बचाने की कोशिश

करता है। इसी तरह गृहस्थ भी जिस शरीर के द्वारा धर्म को साधता है उसका नाश नहीं चाहता। और यदि उसके नाश के कारण रोग आदि उसे सताते हैं तो अपने धर्म के अनुकूल साधनों से उन रोग आदि को दूर करने की भरसक चेष्टा करता है। किंतु जब कोई उपाय कारगर होता नहीं दिखाई देता और मृत्यु के स्पष्ट लक्षण दिखाई देते हैं तब वह शरीर की परवाह न करके अपने धर्म की रक्षा करता है। ऐसी स्थिति में सल्लेखना को आत्मवध कैसे कहा जा सकता है॥२२॥

इसके आगे व्रत दूषक कार्यों का विवेचन करने के लिए सबसे पहले सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहते हैं-

शंका-कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥२३॥

अर्थ : शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्य दृष्टि संस्तव, ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ : अरहंत भगवान के द्वारा कहे गए तत्त्वों में यह शंका होना कि ये ठीक हैं या नहीं, शंका है। अथवा अपनी आत्मा को अखंड अविनाशी जानकर भी मृत्यु वगैरह से डरना सो शंका है। इस लोक या परलोक में भोगों की चाह को कांक्षा कहते हैं। दु:खी, दरिद्री, रोगी, आदि को देखकर उससे घृणा करना विचिकित्सा है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, तप वगैरह की मन में सराहना करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और वचन से तारीफ करना संस्तव है। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार यानी दोष हैं।

इसी तरह व्रत और शीलों के अतिचारों की विधि कहते हैं-

व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

अर्थ : अहिंसादिक अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि शीलों में क्रम से पाँच-पाँच अतिचार कहते हैं।

शंका : व्रत और शील में क्या अंतर है?

समाधान : जो व्रतों की रक्षा के लिए होते हैं उन्हें शील कहते हैं॥२४॥

प्रारंभ में अहिंसा अणुव्रत के अतिचार कहते हैं-

बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधः ॥२५॥

अर्थ : बंध, वध, छेद, अतिभार-आरोपण और अन्नपान निरोध ये पाँच अहिंसा अणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ : प्राणी को रस्सी, सांकल वगैरह से बाँधना या पिंजरे में बंद कर देना, जिससे वह अपनी इच्छानुसार न जा सके, सो बंध है। लाठी, डंडे और कोड़े वगैरह से

पीटना-मारना वध है। पूँछ, कान, नाक आदि अवयवों को काटना-छेदना छेद है। मनुष्य या पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना अति भारारोपण है और उन्हें समय पर खाना-पीना न देना अन्न-पान निरोध है। ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं॥२५॥

अब सत्य अणुव्रत के अतिचार कहते हैं-

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकार-मंत्रभेदाः ॥२६॥

अर्थ : मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट लेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मंत्र भेद, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ : झूठ और अहितकर उपदेश देना मिथ्योपदेश है। स्त्री और पुरुष के द्वारा एकांत में की गई क्रिया को प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। किसी का दबाव पड़ने से ऐसी झूठी बात लिख देना, जिससे दूसरा फँस जाए सो कूटलेख क्रिया है। कोई आदमी अपने पास कुछ धरोहर रख जाए और भूल से कम माँगे तो उसको उसकी भूल न बताकर जितनी वह माँगे उतनी ही दे देना न्यासापहार है। चर्चा वार्ता से अथवा मुख की आकृति वगैरह से दूसरे के मन की बात को जानकर लोगों पर इसलिए प्रकट कर देना कि उसकी बदनामी हो, सो साकार मंत्र भेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं॥२६॥

आगे अचौर्याणुव्रत के अतिचार कहते हैं-

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्ध राज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

अर्थ : स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक-मनोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ : चोर को चोरी करने की स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे से प्रेरणा करवाना, करता हो तो उसकी सराहना करना, स्तेन प्रयोग है। जिस चोर को चोरी करने की न तो प्रेरणा ही की और न अनुमोदना ही की, ऐसे किसी चोर से चोरी का माल खरीदना तदाहृतादान है। राज नियम के विरुद्ध चोर बाजारी वगैरह करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। तोलने के बाँटों को मान कहते हैं और तराजू को उन्मान कहते हैं। बाट तराजू दो तरह के रखना, कमती से दूसरों को देना और अधिक से स्वयं लेना हीनाधिक मानोन्मान है। जाली सिक्के ढालना अथवा खरी वस्तु में खोटी वस्तु मिलाकर बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है। ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२६॥

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीता-
गमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अर्थ : पर विवाह करण, अपरिग्रहीत इत्वरिका गमन, परिगृहीत इत्वरिका गमन, अनंग क्रीड़ा और काम तीव्राभिनिवेश, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ : कन्या के वरण करने को विवाह कहते हैं। दूसरों का विवाह कराना पर विवाह करण है। व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है- एक जिसका कोई स्वामी नहीं है और दूसरी जिसका कोई स्वामी है। इन दोनों प्रकार की व्याभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ जाना आना, उनसे बातचीत, लेन-देन वगैरह करना अपरिग्रहीत और परिग्रहीत इत्वरिका गमन है। काम सेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से रति करना अनंग क्रीड़ा है। काम सेवन की अत्यधिक लालसा को काम तीव्राभिनिवेश कहते हैं। ये पाँच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रत के हैं।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं-

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासीदास-
कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

अर्थ : क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य (चाँदी), सुवर्ण (सोना), धन (गाय-बैल), धान्य (अनाज), दासी दास (टहल चाकरी करने वाले स्त्री-पुरुष) और कुप्य (सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र व बर्तन वगैरह) इन सबके किये हुए परिमाण को लोभ में आकर बढ़ा लेना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार हैं। सभी व्रतों के अतिचार छोड़ने पर ही व्रतों का निर्दोष पालन हो सकता है॥२९॥

अन्य व्रतों में दिग्विरति के अतिचार कहते हैं-

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ : ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ : दिशाओं की परिमित मर्यादा के लांघने को अतिक्रम कहते हैं। संक्षेप से उसके तीन भेद हैं- पर्वत या बहुमंजिले मकान वगैरह पर चढ़ने से ऊर्ध्वातिक्रम अतिचार होता है। कुएँ वगैरह में उतरने से अधोऽतिक्रम होता है और पर्वत की गुफा वगैरह में चले जाने से तिर्यगतिक्रम होता है। दिशाओं का जो परिमाण किया है, लोभ में आकर उससे अधिक क्षेत्र में जाने की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। की हुई मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है॥३०॥

इसके बाद देशव्रत के अतिचार कहते हैं-

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः॥३१॥

अर्थ : आनयन (अपने संकल्पित देश में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को किसी के द्वारा मंगाना), प्रेष्य प्रयोग (मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में किसी को भेजकर काम करा लेना), शब्दानुपात (मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खाँसना वगैरह, जिससे वे आवाज सुनकर जल्दी-जल्दी काम करें), रूपानुपात (मर्यादा के बाहर काम करने वाले पुरुषों को अपना रूप दिखाकर काम कराना), पुद्गलक्षेप (मर्यादा के बाहर पत्थर वगैरह फेंककर अपना काम करा लेना) ये पाँच देशविरति व्रत के अतिचार हैं॥३१॥

आगे अनर्थदंड विरति व्रत के अतिचार कहते हैं-

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग परिभोगानर्थक्यानि॥३२॥

अर्थ : कन्दर्प (राग की अधिकता होने से हास्य के साथ अशिष्ट वचन बोलना), कौत्कुच्य (हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना), मौखर्य (धृष्टतापूर्वक बहुत बकवास करना), असमीक्ष्याधिकरण (बिना विचारे अधिक प्रवृत्ति करना), उपभोग परिभोगानर्थक्य (जितने उपभोग और परिभोग से अपना काम चल सकता हो उससे अधिक का संग्रह करना) ये पाँच अनर्थदंड विरति व्रत के अतिचार हैं॥३२॥

क्रम प्राप्त सामायिक के अतिचार कहते हैं-

योगदुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि॥३३॥

अर्थ : काय दुष्प्रणिधान (सामायिक करते समय शरीर को निश्चल न रखना), वाग्दुष्प्रणिधान (सामायिक के मंत्र को अशुद्ध और जल्दी जल्दी बोलना), मनो दुष्प्रणिधान (सामायिक में मन को न लगाना), अनादर (अनादर पूर्वक सामायिक करना), स्मृत्यनुपस्थापन (चित्त की चंचलता से पाठ वगैरह को भूल जाना) ये पाँच सामायिक के अतिचार हैं॥३३॥

आगे प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार कहते हैं-

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि॥३४॥

अर्थ : अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग (जन्तु हैं या नहीं, यह बिना देखे और भूमि

को कोमल कूंची वगैरह से बिना साफ किये जमीन पर मल मूत्र वगैरह करना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान) बिना देखे और बिना शोधे पूजा की सामग्री और अपने पहिनने के वस्त्र वगैरह उठा लेना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (बिना देखी और बिना साफ की हुई भूमि पर चटाई वगैरह बिछाना), अनादर (उपवास के कारण भूख प्यास से पीड़ित होने से आवश्यक क्रियाओं में उत्साह न होना), स्मृत्यनुपस्थापन (आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना), ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।।३४।।

इसके बाद भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं-

सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहारः ।।३५।।

अर्थ : सचित्त आहार (सचेतन पुष्प पत्र फल वगैरह का खाना), सचित्त संबंध आहार (सचित्त से संबंधित वस्तु को खाना), सचित्त सम्मिश्र आहार (सचित्त से मिली हुई वस्तु को खाना), अभिषव आहार (इन्द्रियों को मंद करने वाली वस्तु को खाना), दुष्पक्वाहार (ठीक रीत से नहीं पके हुए भोजन को करना), ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं। इस तरह का आहार करने से इन्द्रियाँ प्रबल हो सकती हैं, शरीर में रोग हो सकता है, जिससे उपभोग परिभोग के किये हुए परिमाण में व्यतिक्रम होने की संभावना है।।३५।।

क्रम प्राप्त अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार कहते हैं-

सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-
मात्सर्य-कालातिक्रमाः ।।३६।।

अर्थ : सचित्त निक्षेप (सचित्त कमल के पत्ते वगैरह पर रखकर आहार दान देना), सचित्त अपिधान (आहार को सचित्त पत्ते वगैरह से ढँक देना), परव्यपदेश (स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना), मात्सर्य (आदर पूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना), कालातिक्रम (मुनियों को अयोग्य काल में भोजन कराना) ये पाँच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं।।३६।।

अंत में सल्लेखना के अतिचार कहते हैं-

जीवित मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ।।३७।।

अर्थ : जीविताशंसा (सल्लेखना करके जीने की इच्छा करना), मरणाशंसा (रोग आदि के कष्ट से घबराकर जल्दी मरने की इच्छा करना), मित्रानुराग (जिनके साथ खेले थे उन मित्रों का स्मरण करना), सुखानुबन्ध (भोगे हुए सुखों को याद करना), निदान (आगे के भोगों की चाह होना), ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।।३७।।

अब दान का लक्षण कहते हैं-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्॥३८॥

अर्थ : अपने और दूसरों के उपकार के लिए धन वगैरह का देना सो दान है। अर्थात् दान देने से दाता को पुण्य बंध होता है और जिसे दान दिया जाता है उस पात्र के धर्म साधन में उससे सहायता मिलती है। इन्हीं दो भावनाओं से दिया गया दान वास्तव में दान है॥३८॥

दान के फल में विशेषता कैसे होती है सो बतलाते हैं-

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात्तद्विशेषः॥३९॥

अर्थ : विधि द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता होती है। आदर पूर्वक नवधा भक्ति से आहार देना विधि की विशेषता है। तप, स्वाध्याय आदि में जो सहायक हो ऐसा सात्विक आहार आदि देना द्रव्य की विशेषता है। किसी से ईर्ष्या न करना, देते हुए खेद न होना आदि दाता की विशेषता है और पात्र का विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी होना, ये पात्र की विशेषता है। इन विशेषताओं से दान में विशेषता होती है। और दान में विशेषता होने से उसके फल में विशेषता होती है॥३९॥

॥इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः॥७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

आस्रव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका। अब बंध का व्याख्यान करना है। अतः पहले बंध के कारणों को बतलाते हैं-

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध हेतवः ॥१॥

अर्थ : मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं।

विशेषार्थ : पहले कह आए हैं कि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उससे उल्टा यानी अतत्त्वों के श्रद्धान को या तत्त्वों के अश्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। उसके दो भेद हैं- मिथ्यात्व कर्म के उदय से दूसरे के उपदेशों के बिना ही जो मिथ्या श्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। इसको अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं, यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों के पाया जाता है। जो मिथ्यात्व दूसरों के उपदेश से होता है वह परोपदेश पूर्वक या गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं- एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। अनेक धर्म रूप वस्तु को एक धर्मरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे वस्तु सत् ही है, या असत् ही है, या नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा मानना एकान्त मिथ्यात्व है। हिंसा में धर्म मानना, परिग्रह के होते हुए भी अपने को निष्परिग्रही कहना विपरीत मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं इस द्विविधा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। सब देवताओं को, सब धर्मों को और सब साधुओं को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहित का विचार न कर सकना अज्ञान मिथ्यात्व है। छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना और पाँचों इन्द्रियों को तथा मन को विषयों में जाने से नहीं रोकना, सो बारह प्रकार की अविरति है। शुभ कार्यों में आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। उसके पंद्रह भेद हैं- स्त्री कथा, भोजन कता, देश कथा और राज कथा। ये चार कुकथाएँ क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह। सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषायें हैं। चार मनोयोग, चार वचन योग और सात काय योग ये पंद्रह योग हैं। ये सब मिलकर भी तथा अलग-अलग भी बंध के कारण हैं। सो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तो पाँचों ही बंध के कारण होते हैं। सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार बंध के कारण हैं। संयतासंयत नाम के पाँचवें गुणस्थान में अविरति और विरति तो मिली हुई है, क्योंकि उसमें त्रस हिंसा का त्याग तथा यथाशक्ति इन्द्रिय निरोध होता है किंतु शेष तीन कारण पूरे हैं। प्रमत्त संयत

नाम के छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग तीन कारण रहते हैं। अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें तक कषाय और योग दो ही कारण रहते हैं। उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली नाम के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में केवल एक योग ही होता है। चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में बंध का एक भी कारण नहीं है॥१॥

अब बंध का स्वरूप कहते हैं-

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

अर्थ : कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उसे बंध कहते हैं।

विशेषार्थ : समस्त लोक पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। उनमें अनंतानंत पुद्गल परमाणु कर्म रूप होने के योग्य हैं। जब कषाय से संतप्त संसारी जीव योग के द्वारा हलन-चलन करता है तो सब ओर से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। जैसे आग से तपा हुआ लोहे का गोला जल में पड़कर सब ओर से पानी को खींचता है वैसे ही आत्मा योग और कषाय के द्वारा कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसी का नाम बंध है। इस सूत्र में 'कर्मयोग्यान्' न कहकर जो 'कर्मणो योग्यान्' कहा है उससे इस सूत्र में एक विशेष बात बतलाई है। वह यह है कि जीव कर्म की वजह से सकषाय होता है और कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इससे यह बतलाया है कि जीव और कर्म का संबंध अनादि काल से है। पूर्व बद्ध कर्म का उदय आने पर जीव में कषाय पैदा होती है और कषाय पैदा होने से नवीन कर्मों का बंध होता है। इस तरह कर्म से कषाय और कषाय से कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आती है। यदि ऐसा न मानकर बंध को सादि माना जाए, अर्थात् यह माना जाए कि पहले जीव अत्यंत शुद्ध था, पीछे उसके कर्म बंध हुआ तो जैसे अत्यंत शुद्ध मुक्त जीवों के कर्म बंध नहीं होता वैसे ही जीव के भी कर्म बंध नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना पड़ता है कि जीव और कर्म का संबंध अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन उदराग्नि के अनुसार खल भाग और रस भाग रूप हो जाता है वैसे ही तीव्र, मंद या मध्यम जैसी कषाय होती है। उसी के अनुसार कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ता है तथा जैसे आतशी काँच के बर्तन में पड़े अनेक प्रकार के रस, बीज, फूल और फल गर्मी खाकर शराब रूप हो जाते हैं वैसे ही आत्मा में स्थित पुद्गल परमाणु योग और कषाय की वजह से कर्मरूप हो जाते हैं। इसी को बंध कहते हैं॥२॥

इसके बाद बंध के भेद कहते हैं-

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशास्तद्विधयः ।।३।।

अर्थ : प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध ये बंध के चार भेद हैं।

विशेषार्थ : प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन है, गुड़ का स्वभाव मीठापन है। इसी तरह ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाँकना है, दर्शनावरण का स्वभाव वस्तु के सामान्य प्रतिभास को न होने देना है, वेदनीय का स्वभाव सुख-दुःख का वेदन है, दर्शन मोह का स्वभाव तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना है, चारित्र मोह का स्वभाव संयम को रोकना है, आयु का स्वभाव जीव को किसी एक भव में रोके रखना है, नाम कर्म का स्वभाव नारक तिर्यंच आदि कहलाना है, गोत्र का स्वभाव ऊँच-नीच व्यवहार कराना है, अन्तराय का स्वभाव दान वगैरह में विघ्न डालना है। कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं में इस प्रकार के स्वभाव का पड़ना प्रकृति बंध है। तथा इस स्वभाव का न छूटना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस वगैरह का दूध जब तक अपने मिष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ता तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म जितने समय तक अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, कर्म रूप बने रहते हैं उतनी उनकी स्थिति होती है। इस स्थिति के बँधने को स्थितिबंध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गौ और भैंस के दूध में कम-ज्यादा शक्ति होती है, वैसे ही कर्मों में जो तीव्र या मंद फल देने की शक्ति पड़ती है उसे अनुभव या अनुभाग बंध कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप होते हैं परमाणु के द्वारा उनका प्रमाण निश्चय होना कि इतने कर्म परमाणुओं का बंध हुआ, सो प्रदेश बंध है। इस तरह बंध के चार भेद हैं। इनमें से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध तो योग से होते हैं और स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। योग और कषाय के तीव्र या मंद होने से इन बंधों में अन्तर पड़ जाता है।।३।।

आगे प्रकृति बन्ध के भेद कहते हैं-

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायु-
र्नाम-गोत्रान्तरायाः ।।४।।

अर्थ : प्रकृति बंध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं।।४।।

इन आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते हैं-

पञ्च-नव-द्वयष्टा-विंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-
द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम्।।५।।

अर्थ : ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं। दर्शनावरण के नौ भेद हैं। वेदनीय के दो भेद हैं। मोहनीय के अठाईस भेद हैं। आयु के चार भेद हैं। नाम के बयालीस भेद हैं। गोत्र के दो भेद हैं और अन्तराय के पाँच भेद हैं।।५।।

प्रथम ज्ञानावरण के पाँच भेद गिनाते हैं-

मति-श्रुतावधि मनःपर्यय-केवलानाम्।।६।।

अर्थ : मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण, ये ज्ञानावरण के पाँच भेद हैं।

शंका : अभव्य जीव के मन:पर्यय ज्ञान शक्ति और केवलज्ञान शक्ति हैं या नहीं? यदि हैं तो वह अभव्य नहीं और यदि नहीं है तो उसके मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण मानना व्यर्थ है।

समाधान : द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं। किंतु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नहीं है।

शंका : यदि अभव्य के भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं तो भव्य और अभव्य का भेद नहीं बनता, क्योंकि दोनों के ही मन:पर्यय ज्ञान शक्तिऔर केवल ज्ञान शक्ति है?

समाधान : शक्ति के होने और न होने की अपेक्षा भव्य और अभव्य भेद नहीं हैं, किंतु शक्ति के प्रकट होने की अपेक्षा से हैं। जिसके सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे वह भव्य है और जिसके कभी प्रकट नहीं होंगे वह अभव्य है।।६।।

दर्शनावरण के भेद कहते हैं-

चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।।७।।

अर्थ : चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, ये दर्शनावरण कर्म के नौ भेद हैं।

विशेषार्थ : जो चक्षु के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे वह चक्षु दर्शनावरण है। जो चक्षु के सिवा अन्य इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे वह अचक्षु दर्शनावरण है। जो अवधि दर्शन को रोके वह अवधि-दर्शनावरण और जो केवल दर्शन को न होने दे वह केवल दर्शनावरण है। मन, खेद और थकान दूर करने के लिए सोना निद्रा है। गहरी नींद को, जिसमें जीव का आँखें खोलना अशक्य होता है, निद्रा निद्रा कहते हैं। रंज मेहनत और थकान के कारण बैठे-बैठे ही ऊंघने लगना प्रचला है और प्रचला की अधिकता को प्रचला प्रचला कहते हैं। जिसके उदय से जीव सोते-सोते ही उठकर कोई बड़ा भारी काम कर डाले उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।।७।।

अब तृतीय कर्म वेदनीय के भेद कहते हैं-

सदसद्वेद्ये ॥८॥

अर्थ : वेदनीय के दो भेद हैं साता और असाता। जिनके उदय से जीव देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव करता है उसे साता वेदनीय कहते हैं और जिसके उदय से अनेक प्रकार के दुःख का अनुभव करता है उसे असाता वेदनीय कहते हैं॥८॥

अब मोहनीय के भेद कहते हैं-

दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-नवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्य कषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥

अर्थ : मोहनीय कर्म के दो भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की तीन भेद हैं- सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं- अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। अकषाय वेदनीय के नौ भेद हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं- अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ। इस तरह मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं।

विशेषार्थ : दर्शन मोहनीय कर्म के तीन भेदों में से बंध तो केवल एक मिथ्यात्व का ही होता है। किंतु जब जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है तो उस मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं। अतः सत्ता और उदय की अपेक्षा दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। जिसके उदय से जीव सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान के प्रति उदासीन और हित-अहित के विचार से शून्य मिथ्यादृष्टि होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। जब शुभ परिणाम के द्वारा उस मिथ्यात्व की शक्ति घटा दी जाती है और वह आत्मा के श्रद्धान को रोकने में असमर्थ हो जाता है तो उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं और जब उसी मिथ्यात्व की शक्ति आधी शुद्ध हो पाती है तब उसे सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। उसके उदय से जीव के श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिले हुए भाव होते हैं। चरित्र मोहनीय के दो भेद हैं- अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। अकषाय

का अर्थ ईषत कषाय यानी किंचित कषाय है। इसी से अकषाय को नोकषाय भी कहते हैं। क्रोध आदि कषाय का बल पाकर ही हास्य आदि होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। इसलिए इन्हें अकषाय कहा जाता है। जिसके उदय से हँसी आती है उसे हास्य कहते हैं। जिसके उदय से किन्हीं विषयों में आसक्ति होती है उसे रति कहते हैं। जिसके उदय से किन्हीं विषयों में द्वेष होता है उसे अरति कहते हैं। जिसके उदय से रंज होता है उसे शोक कहते हैं। जिसके उदय से डर लगता है उसे भय कहते हैं। जिसके उदय से जीव अपने दोषों को ढाँकता है और दूसरों को दोष लगाता है उसे जुगुप्सा कहते हैं। जिसके उदय से स्त्रीत्वसूचक भाव होते हैं उसे स्त्रीवेद कहते हैं। जिसके उदय से पुरुषत्व सूचक भाव होते हैं उसे पुरुषवेद कहते हैं। जिसके उदय से स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनों से रहित एक तीसरे प्रकार के भाव होते हैं उसे नपुंसक वेद कहते हैं। ये नौ भेद अकषाय वेदनीय के हैं। कषाय वेदनीय के सोलह भेद इस प्रकार हैं- मूल कषाय चार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ होती हैं। मिथ्यात्व के रहते हुए संसार का अंत नहीं होता इसलिए मिथ्यात्व को अनंत कहते हैं और जो क्रोध, मान, माया या लोभ अनंत यानी मिथ्यात्व से बँधे हुए हैं उन्हें अनंतानुबंधी कहते हैं। जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से थोड़ा सा भी देश चारित्र रूप भाव प्रकट नहीं हो सकता, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से जीव के सकल चारित्र रूप भाव नहीं होते उन्हें प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से शुद्धोपयोग रूप यथाख्यात चारित्र नहीं प्रकट होता उसे संज्वलन कहते हैं। ये कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं। इस तरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं॥९॥

अब आयु कर्म के भेद कहते हैं-

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि॥१०॥

अर्थ : नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार आयु कर्म के भेद हैं। जिसके उदय से नरक में दीर्घकाल तक रहना पड़े वह नरकायु है। जिसके उदय से तिर्यंच योनि में रहना पड़े वह तिर्यगायु है। जिसके उदय से मनुष्य पर्याय में जन्म लेना पड़े वह मनुष्यायुहै और जिसके उदय से देवों में जन्म हो वह देवायु है॥१०॥

अब नाम कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं-

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात-परघातातपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च॥११॥

अर्थ : गति, जाति, शरीर, आंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छवास, विहायोगति, तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय यश:कीर्ति और इन दसों के प्रतिपक्षी अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयश:कीर्ति तथा तीर्थंकर ये बयालीस भेद नाम कर्म के हैं। इन्हीं के अवान्तर भेदों को मिलाने से नाम कर्म के तिरानवे भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ : जिसके उदय से जीव दूसरे भव में जाता है उसे गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं- नरक गति, तिर्यग्गति, मनुष्य गति और देव गति। जिसके उदय से जीव के नारक भाव हों वह नरक गति है। ऐसा ही अन्य गतियों का भी स्वरूप जानना। उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी समानता के आधार पर जीवों का एकीकरण जिसके उदय से हो वह जाति नाम कर्म है। उसके पाँच भेद हैं- एकेन्द्रिय जाति नाम, दो इन्द्रिय जाति नाम, तेइन्द्रिय जाति नाम, चौइन्द्रिय जाति नाम और पंचेन्द्रिय जाति नाम। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नाम है। इसी तरह शेष में भी लगा लेना। जिसके उदय से जीव के शरीर की रचना होती है वह शरीर नाम है। उसके पाँच भेद हैं- औदारिक शरीर नाम, वैक्रियिक शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम और कार्मण शरीर नाम। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो वह औदारिक शरीर नाम है। इस तरह शेष को भी समझ लेना। जिसके उदय से अंग उपांग का भेद प्रकट हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। उसके तीन भेद हैं- औदारिक शरीर अंगोपांग नाम, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम। जिसके उदय से अंग उपांग की रचना हो वह निर्माण है। इसके दो भेद हैं- स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। निर्माण नाम कर्म जाति के उदय के अनुसार चक्षु आदि की रचना अपने-अपने स्थान में तथा अपने-अपने प्रमाण में करता है। शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गलों का परस्पर में मिलन जिस कर्म के उदय से होता है वह बंधन नाम है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर में छिद्र रहित एकमेकपना होता है वह संघात नाम है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है वह संस्थान नाम है। उसके छह भेद हैं- जिसके उदय से ऊपर, नीचे तथा मध्य में शरीर के अवयवों की समान विभाग के लिए रचना होती है उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कहते हैं। जिसके उदय से नाभि के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होता है जैसे वट का वृक्ष, उसे न्यग्रोध परिमंडल संस्थान नाम कहते हैं। स्वाति यानी बाम्बी की तरह नाभि से नीचे का भाग भारी और ऊपर का दुबला

जिस कर्म के उदय से हो वह स्वाति संस्थान नाम है। जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो वह कुब्जक संस्थान नाम है। जिसके उदय से बौना शरीर हो वह वामन संस्थान नाम है। जिसके उदय से विरूप आंगोपांग हो वह हुंडक संस्थान नाम है। जिसके उदय से हड्डियों के बंधन में विशेषता हो वह संहनन नाम है। उसके भी छह भेद हैं- वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्ध नाराच संहनन, कीलित संहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नाम। जिसके उदय से वृषभ यानी वेष्टन नाराच यानी कीलें और संहनन यानी हड्डियाँ वज्र की तरह अभेद्य हों वह वज्र वृषभ नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से कील और हड्डियाँ वज्र की तरह हों और वेष्ठन सामान्य हो वह वज्र नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों के जोड़ों में कीलें हों वह नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों की संधियाँ अर्धकीलित हों वह अर्धनाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ परस्पर में ही कीलित हों अलग से कील न हो, वह कीलित संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ केवल नस, स्नायु वगैरह से बँधे हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है। जिसके उदय से शरीर में स्पर्श प्रकट हो वह स्पर्श नाम है। उसके आठ भेद हैं- कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम। जिसके उदय से शरीर में रस प्रकट हो वह रस नाम है। उसके पाँच भेद हैं- तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम। जिसके उदय से शरीर में गंध प्रकट हो वह गंध नाम है। उसके दो भेद हैं- सुगंध नाम और दुर्गंध नाम। जिसके उदय से शरीर में वर्ण यानी रंग प्रकट हो वह वर्णनाम है। उसके पाँच भेद हैं- कृष्ण वर्ण नाम, शुक्ल वर्ण नाम, नील वर्ण नाम, रक्त वर्ण नाम और हरित वर्ण नाम। जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार बना रहे वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। उसके चार भेद हैं- नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम और देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। जिस समय मनुष्य या तिर्यंच मर करके नरक गति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था जिसे वह छोड़कर आया है, यह नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्य नाम कर्म का कार्य है। इसी तरह अन्य अनुपूर्वियों का कार्य जानना। आनुपूर्वी कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है। जिसके उदय से शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी हो और न आक की रुई की तरह हल्का हो, वह अगुरुलघु नाम है। जिसके उदय से जीव स्वयं ही अपना घात करके मर जाए वह उपघात नाम है। जिसके उदय से दूसरे के द्वारा चलाए गए शस्त्र आदि से अपना घात हो वह परघात नाम है। जिसके उदय से आतपकारी शरीर हो वह आतप नाम है। इसका उदय सूर्य के बिम्ब में जो बादर पर्याप्त पृथिवी कायिक जीव होते हैं उन्हीं के होता है।

जिसके उदय में उद्योत रूप शरीर हो वह उद्योत नाम है। इसका उदय चंद्रमा के बिम्ब में रहने वाले जीवों के तथा जुगनु वगैरह के होता है। जिसके उदय से उच्छवास हो वह उच्छवास नाम है। विहाय यानी आकाश। आकाश में गमन जिस कर्म के उदय से होता है वह विहायोगति नाम है। हाथी, बैल वगैरह की सुंदर गति के कारण कर्म को प्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं और ऊँट, गधे वगैरह की खराब गति के कारण कर्म को अप्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि पक्षियों की ही गति आकाश में होती है। आकाश द्रव्य सर्वत्र है अत: सभी जीव आकाश में ही गमन करते हैं। सिद्ध जीव और पुद्गलों की गति स्वाभाविक है कर्म के उदय से नहीं है।

जिसके उदय से शरीर एक जीव के ही भोगने योग्य होता है वह प्रत्येक शरीर नाम है। जिसके उदय से बहुत से जीवों के भोगने योग्य साधारण शरीर होता है वह साधारण शरीर नाम है। अर्थात् साधारण शरीर नामकर्म के उदय से एक शरीर में अनंत जीव एक अवगाहना रूप होकर रहते हैं। वे सब एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं और एक साथ ही श्वास वगैरह लेते हैं। उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसके उदय से द्विन्द्रिय आदि में जन्म हो वह त्रसनाम है। जिसके उदय से एकेन्द्रियों में जन्म हो वह स्थावर नाम है। जिसके उदय से दूसरे जीव अपने से प्रीति करें वह सुभगनाम है। जिसके उदय से सुंदर सुरूप होने पर भी दूसरे अपने से प्रीति न करें अथवा घृणा करें वह दुर्भगनाम है। जिसके उदय से स्वर मनोज्ञ हो जो दूसरों को प्रिय लगे वह सुस्वर नाम है। जिसके उदय से अप्रिय स्वर हो वह दुस्वर नाम है। जिसके उदय से शरीर के अवयव सुंदर हों वह शुभ नाम है। जिसके उदय से शरीर के अवयव सुंदर न हों वह अशुभ नाम है। जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर हो जो किसी से न रुके वह सूक्ष्म नाम है। जिसके उदय से स्थूल शरीर हो वह बादर नाम है। जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्ति की पूर्णता हो वह पर्याप्ति नाम है। उसके छह भेद हैं- आहार पर्याप्ति नाम, शरीर पर्याप्ति नाम, इन्द्रिय पर्याप्ति नाम, प्राणापान पर्याप्ति नाम, भाषा पर्याप्ति नाम और मन: पर्याप्ति नाम। जिसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती वह अपर्याप्ति नाम है। जिसके उदय से शरीर के धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता वह स्थिर नाम है। जिसके उदय से धातु उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा सा श्रम करने से ही या जरा सी गर्मी-सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है वह अस्थिर नाम है। जिसके उदय से शरीर प्रभा सहित हो वह आदेय नाम है और जिसके उदय से शरीर प्रभा रहित हो वह अनादेय नाम है। जिसके उदय से संसार में जीव का यश फैले वह यश:कीर्ति नाम है और जिसके उदय

से संसार में अपयश फैले वह अयशःकीर्ति नाम है। जिसके उदय से अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पद के साथ धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन होता है वह तीर्थंकर नाम है। इस तरह नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियों के ही तिरानवे भेद हो जाते हैं॥११॥

अब गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं-

उच्चैर्नीचैश्च॥१२॥

अर्थ : गोत्र कर्म के दो भेद हैं- उच्च गोत्र और नीच गोत्र। जिसके उदय से लोक में अपने सदाचार के कारण पूज्य कुल में जन्म होता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसके उदय से निंदनीय आचरण वाले कुल में जन्म हो वह नीच गोत्र है॥१२॥

अब अन्तराय कर्म के भेद कहते हैं-

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्॥१३॥

अर्थ : दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद अन्तराय कर्म के हैं। जिसके उदय से देने की इच्छा होते हुए भी नहीं देता है वह दानान्तराय है। लाभ की इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिसके उदय से लाभ नहीं होता है वह लाभान्तराय है। भोग और उपभोग की चाह होते हुए भी जिसके उदय से भोग उपभोग नहीं कर सकता वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है। उत्साह करने पर भी जिसके उदय से उत्साह नहीं हो पाता वह वीर्यान्तराय है॥१३॥

प्रकृति बंध के भेद बतलाकर अब स्थिति बंध के भेद बतलाते हैं। स्थिति दो प्रकार की है- उत्कृष्ट और जघन्य। पहले कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं -

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोटयः परा स्थितिः॥१४॥

अर्थ : आदि के तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होती है॥१४॥

अब मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं-

सप्ततिर्मोहनीयस्य॥१५॥

अर्थ : मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है॥१५॥

अब नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं-

विंशतिर्नामगोत्रयोः॥१६॥

अर्थ : नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होती है॥१६॥

अब आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं-

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थ : आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। यह स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होती है॥१७॥

अब जघन्य स्थिति बंध को बतलाते हुए पहले वेदनीय की जघन्य स्थिति बतलाते हैं-

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य॥१८॥

अर्थ : वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। यह स्थिति सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में ही बँधती है॥१८॥

अब नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति कहते हैं-

नाम-गोत्रयोरष्टौ॥१९॥

अर्थ : नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। यह भी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में ही बँधती है॥१९॥

अब शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति कहते हैं-

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता॥२०॥

अर्थ : ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। इनमें से मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति नौवें गुणस्थान में ही बँधती है। आयु की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचों के बँधती है। और शेष तीन कर्मों की जघन्य स्थिति सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में बँधती है॥२०॥

इस तरह स्थिति बंध को कहकर अब अनुभव बंध को कहते हैं-

विपाकोऽनुभवः॥२१॥

अर्थ : विशिष्ट अथवा नाना प्रकार के पाक यानी उदय को विपाक कहते हैं। और विपाक को ही अनुभव कहते हैं।

विशेषार्थ : छठे अध्याय में बतलाया है कि कषाय की तीव्रता या मंदता के होने से कर्म के आस्रव में विशेषता होती है और उसकी विशेषता से कर्म के उदय में अन्तर पड़ता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से भी कर्म के फल देने में विविधता होती है। अतः कर्म जो अनेक प्रकार का फल देता है उस फल देने का

नाम ही अनुभव या अनुभाग है। शुभ परिणामों की अधिकता होने से शुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और अशुभ प्रकृतियों में मंद रस पड़ता है तथा अशुभ परिणामों की अधिकता होने से अशुभ प्रकृतियों में अधिक रस पड़ता है और शुभ प्रकृतियों में मंद रस पड़ता है। इस तरह परिणामों की विचित्रता से अनुभाग बंध में भी अंतर पड़ता है। कर्मों का यह अनुभाग दो रूप से होता है- एक स्वमुख से और दूसरे परमुख से। अर्थात् प्रत्येक कर्म अपने रूप में ही अपना फल देता है, एक मूल कर्म, दूसरे मूल कर्म रूप होकर फल नहीं देता। किंतु आठों मूल कर्मों की जो उत्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें जो प्रकृतियाँ एक जाति की हैं वे आपस में अदल-बदल कर भी फल देती हैं। जैसे असातावेदनीय सातावेदनीय रूप से भी फल दे सकता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण रूप से उदय में आता है। इसको परमुख से फल देना कहते हैं। परंतु कुछ उत्तर प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं जो स्वमुख से ही अपना फल देती हैं। जैसे, दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय रूप से फल नहीं देता और न चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय रूप से फल देता है। इसी तरह चारों आयु भी अपने रूप ही फल देती है, परस्पर में अदल-बदल कर फल नहीं देतीं। अर्थात् किसी ने नरकायु का बंध किया हो और उसका फल मनुष्यायु या तिर्यंचायु के रूप में मिले, यह संभव नहीं है। उसे नरक में ही जाना होगा॥२१॥

आगे इसी बात को कहते हैं-

स यथानाम्॥२२॥

अर्थ : कर्म का जैसा नाम है वैसा ही उसका फल है। जैसे ज्ञानावरण का फल ज्ञान शक्ति को ढाँकना है, दर्शनावरण का फल दर्शन शक्ति को ढाँकना है। इसी तरह सभी कर्मों और उनके भेदों का नाम सार्थक है और नाम के अनुसार ही उनका फल भी होता है॥२२॥

अब यह बतलाते हैं कि जो कर्म उदय में आकर अपना तीव्र या मंद फल देता है फल देने के बाद भी वह कर्म आत्मा से चिपटा रहता है या छूट जाता है-

ततश्च निर्जरा॥२३॥

अर्थ : फल दे चुकने पर कर्म की निर्जरा हो जाती है; क्योंकि स्थिति पूरी हो चुकने पर कर्म आत्मा के साथ एक क्षण भी चिपटा नहीं रह सकता। आत्मा से छूटकर वह किसी और रूप से परिणमन कर जाता है। इसी का नाम निर्जरा है।

विशेषार्थ : निर्जरा दो प्रकार की होती है- सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। क्रम से उदयकाल आने पर कर्म का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। और जिस कर्म का उदय काल तो नहीं आया, किंतु तपस्या वगैरह के द्वारा जबर्दस्ती

से उसे उदय में लाकर जो खिराया जाता है वह अविपाक निर्जरा है। जैसे आम पेड़ पर लगा लगा जब स्वयं ही पककर टपक जाता है तो वह सविपाक है और उसे पेड़ से तोड़कर पाल में दबाकर जो जल्दी पका लिया जाता है वह अविपाक है॥२३॥

अब प्रदेश बंध को कहते हैं-

नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक-क्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः॥२४॥

अर्थ : इस सूत्र में प्रदेश बंध का स्वरूप बतलाते हुए बंधने वाले कर्म प्रदेशों के बारे में इतनी बातें बतलाई हैं- वे कर्म प्रदेश किसके कारण हैं? कब बँधते हैं? कैसे बँधते हैं? उनका स्वभाव कैसा है? बँधने पर वे रहते कहाँ हैं? और उनका परिमाण कितना होता है? प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है- वे कर्म प्रदेश ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण हैं। अर्थात् जैसे ही वे बँधते हैं, वैसे ही आयु को छोड़कर शेष सात कर्म रूप हो जाते हैं और यदि उस समय आयु कर्म का भी बंध होता है तो आठों कर्म रूप हो जाते हैं। दूसरा प्रश्न है कि कब बँधते हैं? उसका उत्तर है कि सब भवों में बँधते हैं। ऐसा कोई भव नहीं, और एक भव में ऐसा कोई क्षण नहीं जब कर्मबंध न होता हो? तीसरा प्रश्न है कि कैसे बँधते हैं? उसका उत्तर है- योग विशेष के निमित्त से बँधते हैं। योग का वर्णन छठे अध्याय में हो चुका है। वही कर्मों के बंध में निमित्त है। चौथा प्रश्न है कि उनका स्वभाव कैसा है? उसका उत्तर है कि वे सूक्ष्म होते हैं- स्थूल नहीं होते तथा जिस आकाश प्रदेश में आत्म प्रदेश रहते हैं उसी आकाश प्रदेश में कर्म योग्य पुद्गल भी ठहर जाते हैं। पाँचवाँ प्रश्न है कि वे किस आधार से रहते हैं? इसका उत्तर है कि कर्म प्रदेश आत्मा के किसी एक ही भाग में आकर नहीं रहते। किंतु आत्मा के समस्त प्रदेशों में ऐसे घुल-मिल जाते हैं जैसे दूध में पानी। छठा प्रश्न है कि उनका परिमाण कितना होता है, तो उत्तर है कि अनंतानंत परमाणु प्रति समय बँधते रहते हैं। सारांश यह है कि एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश में प्रति समय अनंतानंत प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बंध रूप होते रहते हैं। यही प्रदेश बंध है॥२४॥

अब कर्मों की पुण्य प्रकृतियों को बतलाते हैं-

सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम्॥२५॥

अर्थ : साता वेदनीय, तिर्यग्गायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु, एक उच्च गोत्र और नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ, ये बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं। नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- मनुष्य गति, देव गति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्र वृषभनाराच संहनन, प्रशस्त, वर्ण, गंध, रस और

स्पर्श, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। ये सब पुण्य प्रकृतियाँ हैं॥२५॥

अब पाप प्रकृतियों को कहते हैं-

अतोन्यत् पापम्॥२६॥

अर्थ : इन पुण्य कर्म प्रकृतियों के सिवा शेष कर्म प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। सो ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पाँच, ये घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। नरक गति, तिर्यंच गति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण गंध रस स्पर्श, नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये नाम कर्म की चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस तरह बयासी प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ : घातिया कर्म तो चारों अशुभ ही हैं और अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। उनमें भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। इसलिए उनकी गणना पुण्य प्रकृतियों में भी की जाती है और पाप प्रकृतियों में भी की जाती है। इससे ऊपर गिनाई गई पुण्य और पाप प्रकृतियों का जोड़ ८२+४२=१२४ होता है। किंतु बंध प्रकृतियाँ १२० ही हैं। जबकि आठों कर्मों की कुल प्रकृतियाँ ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ हैं। इनमें पाँच बंधन और पाँच संघात तो शरीर के साथी हैं- अर्थात् यदि औदारिक शरीर का बंध होगा तो औदारिक बंधन और औदारिक संघात का अवश्य बंध होगा। इसलिए बंध प्रकृतियों में पाँच शरीरों का ही ग्रहण किया है। अतः पाँच बंधन और पाँच संघात ये १० प्रकृतियाँ कम हुईं। और वर्ण गंध आदि के बीस भेदों में से केवल वर्ण गंध, रस और स्पर्श इन चार को ही ग्रहण किया है, इससे १६ प्रकृतियाँ ये कम हुईं तथा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में से केवल एक मिथ्यात्व का ही बंध होता है। अतः दो ये कम हुईं। इस तरह अट्ठाईस प्रकृतियों के कम होने से बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० ही रहती हैं। इस तरह बंध का वर्णन समाप्त हुआ॥२६॥

॥इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोध्यायः॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः

अब बंध तत्त्व का वर्णन करने के बाद बंध के विनाश के लिए संवर तत्त्व का वर्णन करते हैं। प्रथम ही संवर का लक्षण कहते हैं-

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ : नए कर्मों के आने में जो कारण है उसे आस्रव कहते हैं और आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। संवर के दो भेद हैं-भाव संवर और द्रव्य संवर। जो क्रियाएँ संसार में भटकने में हेतु हैं उन क्रियाओं का अभाव होना भाव संवर है और उन क्रियाओं का अभाव होने पर क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म पुद्‌गलों का आगमन होता था उनका रुकना द्रव्य संवर है॥१॥

अब संवर के कारण बतलाते हैं-

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः ॥२॥

अर्थ : वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र से होता है। संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है। प्राणियों को कष्ट न पहुँचे इस भावना से यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। जो जीव को उसके इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है। संसार शरीर वगैरह का स्वरूप बार-बार विचारना अनुप्रेक्षा है। भूख प्यास वगैरह का कष्ट होने पर उस कष्ट को शांतिपूर्वक सहन करना परिषहजय है। संसार भ्रमण से बचने के लिए, जिन क्रियाओं से कर्म बंध होता है उन क्रियाओं को छोड़ देना चारित्र है।

विशेषार्थ : संवर का प्रकरण होते हुए भी जो इस सूत्र में संवर का ग्रहण करने के लिए 'स' शब्द दिया है वह यह बतलाता है कि संवर गुप्ति वगैरह से ही हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से नहीं हो सकता, क्योंकि जो कर्म रागद्वेष या मोह के निमित्त से बंधता है वह उनको दूर किए बिना नहीं रुक सकता॥२॥

अब संवर का प्रमुख कारण बतलाते हैं-

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ : तप से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

विशेषार्थ : यद्यपि दस धर्मों में तप आ जाता है फिर भी तप का अलग से ग्रहण कर बतलाने के लिए किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रुकता है और पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है। तथा तप संवर का प्रधान कारण है। यद्यपि तप

को सांसारिक अभ्युदय का भी कारण बतलाया है किन्तु तप का प्रधान फल तो कर्मों का क्षय होना है और गौणफल सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति है। अतः तप अनेक काम करता है।।३।।

अब गुप्ति का लक्षण कहते हैं -

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः ।।४।।

अर्थ : योग अर्थात् मन वचन और काय की स्वेच्छा चारिता को रोकना गुप्ति है। लौकिक प्रतिष्ठा अथवा विषय सुख की इच्छा से मन वचन और काय की प्रकृति को रोकना गुप्ति नहीं है यह बतलाने के लिए ही सूत्र में 'सम्यक्' पद दिया है। अतः जिससे परिणामों में किसी तरह का संक्लेश पैदा न हो इस रीति से मन वचन और काय की स्वेच्छा चारिता को रोकने से उसके निमित्त से होने वाला कर्मों का आस्रव नहीं होता। उस गुप्ति के तीन भेद हैं-काय गुप्ति, वचन गुप्ति और मनो गुप्ति।।४।।

यद्यपि गुप्ति का पालक मुनि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकता है किन्तु आहार के लिए, विहार के लिए और शौच आदि के लिए उसे प्रवृत्ति अवश्य करनी पड़ती है। **अतः प्रवृत्ति करते हुए भी जिससे आस्रव नहीं हो ऐसा उपाय बतलाने के लिए समिति को कहते हैं-**

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।।५।।

अर्थ : ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। यहाँ पूर्व सूत्र से 'सम्यक' पद की अनुवृत्ति होती है अतः पाँचों में सम्यक् पद लगा लेना चाहिए। अर्थात् सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान निक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग। सूर्य का उदय हो जाने पर जब प्रकाश इतना फैल जाए कि आँखों से प्रत्येक वस्तु साफ दिखाई देने लगे, उस समय मनुष्य के पद संचार से जो मार्ग प्रासुक हो उस मार्ग पर चार हाथ जमीन आगे देखते हुए सब ओर से मन को रोककर धीरे-धीरे गमन करना ईर्या समिति है। हित-मित और संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है। अर्थात मिथ्या वचन, निन्दापरक वचन, अप्रिय वचन, कषाय के वचन, भेद डालने वाले वचन, निस्सार अथवा अल्प सार वाले वचन, संदेह से भरे हुए वचन, भ्रम पैदा करने वाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन, कठोर वचन, अधर्मपरक वचन और अतिप्रशंसा परक वचन साधु को नहीं बोलना चाहिए। दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर नवधाभक्तिपूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े होकर अपने पाणि पात्र में ही ग्रहण करना एषणा समिति है। शास्त्र कमंडल आदि धर्म के उपकरणों को देख भालकर तथा पीछी

से साफ करने रखना, उठाना, आदान निक्षेपण समिति है। त्रस और स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुँचे इस तरह से शुद्ध जंतु रहित भूमि में मल मूत्र आदि करना उत्सर्ग समिति है। इस तरह ये पाँचों समितियाँ संवर की कारण हैं।

शंका : ये समितियाँ तो वचन गुप्ति और काय गुप्ति के ही अंतर्भूत हैं, इन्हें अलग क्यों कहा?

समाधान : काल का प्रमाण करके समस्त योगों का निग्रह करना तो गुप्ति है। और जो अधिक समय तक गुप्ति का पालन करने में असमर्थ हैं उनका शुभ क्रियाओं में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। यही दोनों में भेद है।।५।।

अब दस धर्मों को कहते हैं-

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६।।

अर्थ : उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस धर्म के भेद हैं। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त होते हुए भी परिणामों में मलिनता न होना क्षमा है। उत्तम जाति, कुल, रूप, ज्ञान, ऐश्वर्य वगैरह के होते हुए भी उनका घमंड नहीं करना मार्दव है। मन, वचन और काय की कुटिलता का न होना आर्जव है। लोभ का अत्यंत अभाव शौच है। लोभ चार प्रकार का होता है जीवन का लोभ, निरोगता का लोभ, इंद्रियों का लोभ और भोग्य सामग्री का लोभ। इन चारों ही लोभों का अभाव होना शौच धर्म है। सज्जन पुरुषों के बीच में सुंदर वचन बोलना सत्य धर्म है।

शंका : सत्य धर्म और भाषा समिति में क्या अंतर है?

समाधान : संयमी मनुष्य साधुजनों से या असाधुजनों से बातचीत करते समय हित मित ही बोलता है। अन्यथा यदि बहुत बातचीत करे तो राग और अनर्थदंड आदि दोषों का भागी होता है। यह भाषा समिति है। किन्तु सत्य धर्म से संयमीजनों को अथवा श्रावकों को ज्ञान चारित्र आदि की शिक्षा देने के उद्देश्य से अधिक बोलना भी बुरा नहीं है।

ईर्या समिति वगैरह का पालन करते समय एकेन्द्रिय आदि जीवों को पीड़ा न पहुँचाना प्राणि संयम है और इंद्रियों के विषयों में राग का न होना इंद्रिय संयम है। इस तरह संयम दो प्रकार का है। कर्मों का क्षय करने के लिए अनशन आदि करना तप है। चेतन और अचेतन परिग्रह को छोड़ना त्याग है शरीर वगैरह से भी ममत्व न करना आकिंचन्य है। पहले भोगी हुई स्त्री को स्मरण न करके तथा स्त्री मात्र की कथा के सुनने से विरत

होकर स्त्री से संयुक्त शय्या आसन पर भी न बैठना और अपनी आत्मा में ही लीन रहना ब्रह्मचर्य है। ये दस धर्म संवर के कारण हैं। इनके पहले जो उत्तम विशेषण लगाया है वह यह बतलाने के लिए लगाया है कि किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए क्षमा आदि को अपनाना उत्तम क्षमा नहीं है।।६।।

इसके बाद बारह अनुप्रेक्षाओं को कहते हैं-

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तन मनुप्रेक्षा।।७।।

अर्थ : अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ, धमस्वाख्यात इन बारहों के स्वरूप को बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इंद्रियों के विषय, धन, यौवन, जीवन वगैरह जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं ऐसा विचारना अनित्यानुप्रेक्षा है। ऐसा विचारते रहने से इनका वियोग होने पर भी दु:ख नहीं होता।।१।। इस संसार में कोई शरण नहीं है। पाल पोषकर पुष्ट हुआ शरीर भी कष्ट में साथ नहीं देता, बल्कि उल्टा कष्ट का ही कारण होता है। बंधु बांधव भी मृत्यु से नहीं बचा सकते। इस प्रकार का विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।।२।। संसार के स्वभाव का विचार करना संसारानुप्रेक्षा है।।३।। संसार में मैं अनादि काल से अकेला ही घूमता हूँ। न कोई मेरा अपना है और न कोई पराया। धर्म ही एक मेरा सहायक है। ऐसा विचारना एकत्वानुप्रेक्षा है।।४।। शरीर वगैरह से अपने को भिन्न विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।।५।। शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।।६।। आस्रव के दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है।।७।। संवर के गुणों का विचार करना संवरानुप्रेक्षा है।।८।। निर्जरा के गुण दोषों का विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है।।९।। लोक के आकार वगैरह का विचार करना लोकानुप्रेक्षा है। इसका विचार करने से ज्ञान की विशुद्धि होती है।।१०।। ज्ञान की प्राप्ति हेतु दुर्लभ है अत: ज्ञान को पाकर विषय सुख में नहीं डूबना चाहिए इत्यादि विचारना बोद्धि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है।।११।। अर्हन्त भगवान के द्वारा कहा गया धर्म मोक्ष की प्राप्ति का कारण है, इत्यादि विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है।।१२।। इन बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना करने से मनुष्य उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को भी अच्छी रीति से पालता है और आगे कही जाने वाली परिषहों को भी जीतने का उत्साह करता है। इसी से अनुप्रेक्षाओं को धर्म और परिषहों के बीच में रखा है।।७।।

परिषह क्यों सहना चाहिए? यह प्रश्न होने पर परिषहों को सहने का उद्देश्य बतलाते हैं -

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ : संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परिषहों को सहना चाहिए। अर्थात् जो स्वेच्छा से भूख प्यास वगैरह की परिषह को सहते हैं उनके ऊपर अब कोई उपसर्ग आता है तो कष्ट सहन करने का अभ्यास होने से वे उन उपसर्गों से घबराकर अपने मार्ग से डिगते नहीं हैं। और इनके सहन करने से कर्मों की निर्जरा भी होती है। अत: विपत्ति के समय मन को स्थिर रखने के लिए परिषहों को सहना भी उचित है॥८॥

उद्देश्य बतलाकर परिषहों के स्वरूप को कहते हैं-

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दशंमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनालाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि॥९॥

अर्थ : क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मोक्षार्थी को इन्हें सहना चाहिए। अत्यंत भूख की पीड़ा होने पर धैर्य के साथ उसे सहना क्षुधा परीषह जय है॥१॥ प्यास की कठोर वेदना होते हुए भी प्यास के वश में नहीं होना पिपासा परीषह जय है॥२॥ शीत से पीड़ित होते हुए भी शीत का प्रतिकार करने की भावना भी मन में न होना शीत परीषह जय है॥३॥ ग्रीष्मऋतु आदि के कारण गर्मी का घोर कष्ट होते हुए भी उससे विचलित न होना उष्ण परीषय जय है॥४॥ डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सु वगैरह के काटने पर भी परिणामों में विषाद का न होना दंश मशक परीषह जय है॥५॥ माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक की तरह निर्विकार नग्नरूप धारण करना नग्न परीषह जय है॥६॥ अरति उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हुए भी संयम में अत्यंत प्रेम होना अरति परीषह जय है॥७॥ स्त्रियों द्वारा बाधा पहुँचाई जाने पर भी उनके रूप को देखने की अथवा उनका आलिंगन करने की भावना का भी न होना स्त्री परिषह जय है॥८॥ पवन की तरह एकाकी विहार करते हुए भयानक वन में भी सिंह की तरह निर्भय रहना और नंगे पैरों में कंकर पत्थर चुभने पर भी खेद खिन्न न होना चर्या परीषह जय है॥९॥ जिस आसन से बैठे हों उससे विचलित न होना निषद्या परीषह जय है॥१०॥ रात्रि में ऊँची नीची कठोर भूमि पर पूरा बदन सीधा रखकर एक करवट से सोना शय्या परीषह जय है॥११॥ अत्यंत कठोर वचनों को सुनकर भी शांत रहना आक्रोश परिषह जय है॥१२॥ जैसे चंदन को जलाने पर भी वह सुगंध ही देता है वैसे ही अपने को मारने पीटने वालों

पर भी क्रोध न करके उनका भला ही विचारना वध परीषय जय है।।१३।। आहार वगैरह के न मिलने से भले ही प्राण चले जाएँ किन्तु किसी से याचना करना तो दूर, मुँह पर दीनता भी न लाना याचना परीषह जय है।।१४।। आहारादि का लाभ न होने पर भी वैसा ही संतुष्ट रहना जैसा लाभ होने पर अलाभ परीषह जय है।।१५।। शरीर में अनेक व्याधियाँ होते हुए भी उनकी चिकित्सा का विचार भी न करना रोग परीषह जय है।।१६।। तृण कांटे वगैरह की वेदना को सहना तृण स्पर्श परीषह जय है।।१७।। अपने शरीर में लगे हुए मल की ओर लक्ष्य न देकर आत्म भावना में ही लीन रहना मल परीषय जय है।।१८।। सन्मान और अपमान में समभाव रखना और आदर सत्कार न होने पर खेद खिन्न न होना, सत्कार पुरस्कार जय है।।१९।। अपने पांडित्य का गर्व न होना प्रज्ञा परीषह जय है।।२०।। यदि कोई तिरस्कार करे, तू अज्ञानी है, कुछ जानता नहीं तो उससे खिन्न होकर ज्ञान की प्राप्ति का ही बराबर प्रयत्न करते रहना अज्ञान परीषह जय है।।२१।। श्रद्धान से च्युत होने के निमित्त उपस्थित होने पर भी मुनि मार्ग में बराबर आस्था बनाए रखना अदर्शन परीषय जय है।।२२।। इस तरह इन बाईस परीषहों को संक्लेश रहित चित्त से सहन करने से महान संवर होता है।।९।।

किस गुणस्थान में कितनी परिषह होती है यह बतलाते हैं-

सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश।।१०।।

अर्थ : सूक्ष्मसाम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में और छद्मस्थ वीतराग यानी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होती हैं। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली आठ परिषह नहीं होती, क्योंकि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उदय ही नहीं है। दसवें में केवल लोभ संज्वलन कषाय का उदय है। वह भी अत्यंत सूक्ष्म है अतः दसवाँ गुणस्थान भी वीतराग छद्मस्थ के ही तुल्य है। इसलिए उसमें भी मोहजन्य आठ परिषह नहीं होती।।१०।।

एकादश जिने।।११।।

अर्थ : चार घातिया कर्मों से रहित जिन भगवान में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से ग्यारह परिषह होती है।

शंका : यदि केवली भगवान में ग्यारह परीषह होती हैं तो उन्हें भूख प्यास की बाधा भी होनी चाहिए।

समाधान : मोहनीय कर्म का उदय न होने से वेदनीय कर्म में भूख प्यास की वेदना को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती। जैसे, मंत्र और औषधि के बल से जिसकी मारने

की शक्ति नष्ट कर दी जाती है उस विष को खाने से मरण नहीं होता है, वैसे ही घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से अनन्त चतुष्टय से युक्त केवली भगवान के अन्तराय कर्म का भी अभाव हो जाता है और लगातार शुभ नोकर्म वर्गणाओं का सचय होता रहता है। इन कारणों से नि:सहाय वेदनीय कर्म अपना काम नहीं कर सकता। इसी से केवली के भूख प्यास की वेदना नहीं होती। फिर भी उनके वेदनीय का उदय है अत: ग्यारह परीषह उपचार से कही है॥११॥

बादर साम्पराये सर्वे॥१२॥

अर्थ : बादर सम्पराय अर्थात् छठे से लेकर नौवें गुणस्थान तब तक परीषह होती हैं।

विशेषार्थ : यद्यपि पाँचवें गुणस्थान का नाम बादर साम्पराय है। किन्तु यहाँ बादर साम्पराय से नौवां गुणस्थान न लेकर 'बादर साम्पराय' शब्द का अर्थ लेना चाहिए अर्थात बादर यानी स्थूल, और साम्पराय यानी कषाय जिनमें पाई जाती है ऐसे गुणस्थान छठे से नौ तक हैं। उनमें कषाय का उदय होने से सभी परीषह होती हैं॥१२॥

किस कर्म के उदय से कौन परीषह होती है यह भी बतलाते हैं-

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने॥१३॥

अर्थ : ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं।

शंका : ज्ञानावरण का उदय होने पर अज्ञान परीषह का होना तो ठीक है परंतु प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के चले जाने पर होती है, क्योंकि प्रज्ञा का अर्थ है ज्ञान, और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है?

समाधान : प्रज्ञा परीषह का अर्थ है ज्ञान का मद हो तो उसे न होने देना। सो मद ज्ञानावरण के उदय में ही होता है, जिनके समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है उनके ज्ञान का मद नहीं होता। अत: प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण के उदय में ही होती है॥१३॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ॥१४॥

अर्थ : दर्शन मोह के होने पर अदर्शन परीषह होती है और अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है॥१४॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार पुरस्काराः॥१५॥

अर्थ : चारित्र मोहनीय के उदय में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं॥१५॥

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अर्थ : शेष ग्यारह परीषह अर्थात क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होती हैं॥१६॥

एक व्यक्ति में एक साथ कितनी परीषह हो सकती है यह बतलाते हैं-

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ : एक जीव के एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह तक हो सकती है, क्योंकि शीत और उष्ण में से एक समय में एक ही होगी। तथा चर्या, शय्या और निषद्या में से एक ही होगी। अतः तीन के कम हो जाने से शेष उन्नीस परीषह एक साथ एक व्यक्ति में हो सकती है॥१७॥

अब चारित्र के भेद कहते हैं-

सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथा ख्यातमिति चारित्रम्॥१८॥

अर्थ : सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इस तरह पाँच प्रकार का चारित्र है। समस्त सावद्ययोग का एक रूप से त्याग करना सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र से डिगने पर प्रायश्चित के द्वारा सावद्य व्यापार में लगे हुए दोषों को छेद कर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है अथवा समस्त सावद्य योग का भेद रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। अर्थात मैंने समस्त पाप कार्यों का त्याग किया, यह सामायिक चारित्र का रूप है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग किया, यह छेदोपस्थापनाचारित्र का रूप है। जिस चारित्र में प्राणी हिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पाई जाती है उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं। जिसने अपने जन्म से तीस वर्ष की अवस्था तक सुखपूर्वक जीवन बिताया हो, और फिर जिन दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थङ्कर के निकट प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व को पढ़ा हो और तीनों संध्या कालों को छोड़कर दो कोस विहार करने का जिसके नियम हो, उस दुर्द्धरचर्या के पालक महामुनि को ही परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्र वाले के शरीर से जीवों का घात नहीं होता। इसी से इसका नाम परिहार विशुद्धि है। अत्यंत सूक्ष्म कषाय के होने से सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म साम्परायचारित्र कहते हैं। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्र को अथाख्यात भी कहते हैं

क्योंकि अथ शब्द का अर्थ अनन्तर है और यह समस्त मोहनीय के क्षय अथवा उपशम होने के अंतर ही होता है। तथा इसे यथाख्यात भी कहते हैं, क्योंकि जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही चारित्र का स्वरूप है। सूत्र में जो यथाख्यात के बाद इति शब्द है वह यह बतलाता है कि यथाख्यात चारित्र से सकल कर्मों के क्षय की पूर्ति हो जाती है॥१८॥

आगे तप का कथन करते हैं। तप के दो भेद हैं-बाह्य तप और अभ्यंतर तप। इनमें से भी प्रत्येक के छह भेद हैं। पहले बाह्य तप के छह भेद कहते हैं -

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥१९॥

अर्थ : अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश ये छह बाह्य तप के भेद हैं। ख्याति, पूजा, मंत्र सिद्धि वगैरह लौकिक फल की अपेक्षा न करके, स ंयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान तथा स्वाध्याय की सिद्धि के लिए भोजन का त्याग करना, अनशन तप है। संयम को जागृत रखने के लिए, विकारों की शांति के लिए, संतोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अल्प आहार करना अवमौदर्य तप है। जब मुनि भिक्षा के लिए निकलें तो घरों का नियम करना कि मैं आहार के लिए इतने घर जाऊँगा अथवा अमुक रीति से आहार मिलेगा तो लूँगा, इसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। यह तप भोजन की आशा को रोकने के लिए किया जाता है। इंद्रियों के दमन के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए तथा सुखपूर्वक स्वाध्याय करने के लिए घी, दूध, दही, तेल, मीठा और नमक का यथायोग्य त्याग करना रस परित्याग तप है। ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि के लिए एकांत स्थान में शयन करना तथा आसन लगाना विविक्त शय्यासन तप है। कष्ट सहने के अभ्यास के लिए, आराम करने की भावना को दूर करने के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए ग्रीष्म ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाना, शीत ऋतु में खुले हुए मैदान में सोना, अनेक प्रकार के आसन लगाना आदि कायक्लेश तप हैं। बाह्य द्रव्य खानपान आदि की अपेक्षा से ये तप किए जाते हैं तथा इन तपों का पता दूसरे लोगों को भी लग जाता है इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

शंका : परीषह में और कायक्लेश तप में क्या अंतर है?

समाधान : कायक्लेश स्वयं किया जाता है और परीषह अचानक आ जाती है॥१९॥

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्॥२०॥

अर्थ : प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं। ये तप मन को वश में करने के लिए किए जाते हैं इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमाद से लगे हुए दोषों को दूर करना प्रायश्चित तप है। पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। शरीर वगैरह के द्वारा सेवा सुश्रुषा करने को वैयावृत्य कहते हैं। आलस्य त्याग कर ज्ञान का आराधन करना स्वाध्याय है। ममत्व के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं और चित्त की चंचलता के दूर करने को ध्यान कहते हैं।।२०।।

इसके बाद इन अभ्यन्तर तपों के उपभेदों की संख्या कहते हैं-

नव-चतुर्दश पञ्च-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।।२१।।

अर्थ : प्रायश्चित के नौ भेद हैं। विनय के चार भेद हैं। वैयावृत्तय के दस भेद हैं। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। इस तरह ध्यान से पहले पाँच प्रकार के तपों के ये भेद हैं।।२१।।

अब प्रायश्चित के नौ भेद कहते हैं-

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तप-श्च्छेद-परिहारोपस्थापना:।।२२।।

अर्थ : आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय यानी आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये नौ भेद प्रायश्चित के हैं।

गुरु से अपने प्रमाद को निवेदन करने का नाम आलोचना है। वह आलोचना दस दोषों को बचाकर करनी चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं-आचार्य अपने ऊपर दया करके थोड़ा प्रायश्चित दें, इस भाव से आचार्य को पीछी कमण्डलु आदि भेंट करके दोष का निवेदन करना आकम्पित दोष है। गुरु की बातचीत से प्रायश्चित का अनुमान लगाकर दोष का निवेदन करना अनुमापित दोष है। जो दोष किसी ने करते नहीं देखा उसे छिपा जाना और जो दोष करते देख लिया उसे गुरु से निवेदन करना दृष्टि दोष है। केवल स्थूल दोष का निवेदन करना बादर दोष है। महान् प्रायश्चित के भय से महान दोष को छिपा लेना और छोटे दोष का निवेदन करना सूक्ष्म दोष है। दोष निवेदन करने से पहले गुरु से पूछना कि महाराज! यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसका क्या प्रायश्चित होता है, यह छन्न दोष है। प्रतिक्रमण के दिन जब बहुत से साधु एकत्र हुए हों और खूब हल्ला हो रहा हो उस समय दोष का निवेदन करना, जिससे कोई सुन न सके, शब्दाकुलित दोष है। गुरु ने जो प्रायश्चित दिया है वह उचित है या नहीं ऐसी आशंका से अन्य साधुओं से पूछना बहुजन नाम का दोष है। गुरु से दोष न कहकर अपने सहयोगी अन्य साधुओं से अपना दोष कहना अव्यक्त नाम का दोष है। और गुरु से प्रमाद का

निवेदन न करके, जिस साधु ने अपने समान अपराध किया हो उससे जाकर पूछना कि तुझे गुरु ने क्या प्रायश्चित दिया है, क्योंकि तेरे समान ही मेरा भी अपराध है जो प्रायश्चित तुझे दिया है वही मेरे लिए भी युक्त है, यह तत्सेवी नाम का दोष है। इस तरह दस दोष रहित प्रमाद का निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित है।

प्रमाद से दोष मुझ से हुआ वह मिथ्या हो इस तरह अपने किए हुए दोष के विरुद्ध अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को प्रकट करना प्रतिक्रमण है। कोई अपराध तो केवल आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है कोई प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है और कोई आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध होता है यही तदुभय प्रायश्चित है। सदोष आहार तथा उपकरणों का संसर्ग होने पर उसका त्याग करना विवेक प्रायश्चित है। कुछ समय के लिए कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित है। अनशन आदि करना तप प्रायश्चित है। दीक्षा के समय को छेद देना, जैसे कोई बीस वर्ष का दीक्षित साधु है, अपराध करने के कारण उसकी दस वर्ष की दीक्षा छेद दी गई, अतः अब वह दस वर्ष का दीक्षित माना जाएगा और जो दस वर्ष से एक दिन अधिक के भी दीक्षित साधु है उन्हें इसे नमस्कार आदि करना होगा। यह छेद प्रायश्चित है। कुछ समय के लिए संघ से निकाल देना परिहार प्रायश्चित है। और पुरानी दीक्षा को छेदकर फिर से दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित है॥२२॥

अब विनय तप के भेद कहते हैं-

ज्ञान-दर्शन-चरित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ : ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ये चार भेद विनय के हैं। आलस्य त्यागकर आदरपूर्वक सम्यग्ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना आदि ज्ञान विनय है। तत्त्वार्थ का शङ्का आदि दोष रहित श्रद्धान करना दर्शन विनय है। अपने मन को चारित्र के पालन में लगाना चारित्र विनय है। और आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर उनके लिए उठना, सन्मुख जाकर हाथ जोड़कर वंदना करना तथा परोक्ष में भी उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणों का स्मरण वगैरह करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, ये सब उपचार विनय है॥२३॥

अब वैयावृत्त्य तप के भेद कहते हैं-

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ : आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के साधुओं की अपेक्षा से वैयावृत्त्य के दस भेद हैं। जिनके पास जाकर

सब मुनि व्रताचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जिनके पास जाकर मुनिगण शास्त्राभ्यास करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो साधु बहुत व्रत उपवास आदि करते हैं उन्हें तपस्वी कहते हैं। जो साधु श्रुत का अभ्यास करते हैं उन्हें शैक्ष कहते हैं। रोगी साधुओं को ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियों की परिपाटी में जो मुनि होते हैं उन्हें गण कहते हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परंपरा को कुल कहते हैं। ऋषि, यति और अनगार के भेद से चार प्रकार के साधुओं के समूह को संघ कहते हैं। अथवा मुनि, आर्यिका और श्रावक श्राविका के समूह को संघ कहते हैं। बहुत समय के दीक्षित मुनि को साधु कहते हैं। जिसका उपदेश लोकमान्य हो अथवा जो लोक में पूज्य हो उस साधु को मनोज्ञ कहते हैं। इनको कोई व्याधि हो जाए या कोई उपसर्ग आ जाए या किसी का श्रद्धान विचलित होने लगे तो उसका प्रतिकार करना, यानी रोग का इलाज करना, संकट को दूर करना, उपदेश आदि के द्वारा श्रद्धान को दृढ़ करना वैयावृत्त्य है॥२४॥

अब स्वाध्याय तप के भेद कहते हैं-

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ : वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं। धर्म के इच्छुक विनयशील पात्रों को शास्त्र देना, शास्त्र का अर्थ बतलाना तथा शास्त्र भी देना और उसका अर्थ भी बतलाना वाचना है। संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय करने के लिए विशिष्ट ज्ञानियों से प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मन से अभ्यास कराना अर्थात उसका बार बार विचार करना अनुप्रेक्षा है। शुद्धतापूर्वक पाठ करना आम्नाय है। धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है। इस तरह स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है, तप बढ़ता है, व्रतों में अतिचार नहीं लगने पाता तथा स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई सरल उपाय मन को स्थिर करने का नहीं है। अतः स्वाध्याय करना हितकर है॥२५॥

अब व्युत्सर्ग तप के भेद कहते हैं-

बाह्याभ्यन्तरोपध्यो॥२६॥

अर्थ : त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं। बाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग। आत्मा से जुदे धन धान्य वगैरह का त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है और क्रोध मान माया आदि भावों का त्याग करना अभ्यन्तर उपधि त्याग है। कुछ समय के लिए अथवा जीवन भर के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना भी अभ्यन्तरोपधि त्याग ही कहा जाता है। इसके करने से मनुष्य निर्भय हो जाता है, वह हल्कापन अनुभव करता है तथा फिर जीवन की तृष्णा उसे नहीं सताती॥२६॥

अब ध्यान का वर्णन करते हैं-

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्॥२७॥

अर्थ : उत्तम संहनन के धारक मनुष्य का अपने चित्त की वृत्ति को सब ओर से रोककर एक ही विषय में लगाना ध्यान है यह ध्यान अधिक से अधिक अन्तमुहूर्त तक ही होता है।

विशेषार्थ : आदि के तीन संहनन उत्तम हैं। वे ही ध्यान के कारण हैं। किन्तु उनमें से मोक्ष का कारण एक वज्रवृषभ नाराच संहनन ही है। अन्य संहनन वाले का मन अन्तमुहूर्त भी एकाग्र नहीं रह सकता।

शंका : यदि ध्यान अर्न्तमुहूर्त तक ही हो सकता है तो आदिनाथ भगवान ने छह मास तक ध्यान कैसे किया?

समाधान : ध्यान की संतान को भी ध्यान कहते हैं। अत: एक विषय में लगातार ध्यान तो अन्तमुहूर्त तक ही होता है। उसके बाद ध्येय बदल जाता है। और ध्यान की संतान चलती रहती है। अस्तु,

इस सूत्र में तीन बातें बतलाई हैं ध्याता, ध्यान का स्वरूप और ध्यान का काल। सो उत्तम संहनन का धारी पुरुष तो ध्याता हो सकता है। एक पदार्थ को लेकर उसी में चित्त को स्थिर कर देना ध्यान है। जब विचार का विषय एक पदार्थ न होकर नाना पदार्थ होते हैं तब वह विचार ज्ञान कहलाता है। और जब वह ज्ञान एक ही विषय में स्थिर हो जाता है तब उसे ही ध्यान कहते हैं। उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त होता है॥२७॥

अब ध्यान के भेद कहते हैं-

आर्त्तरौद्रधर्म्य-शुक्लानि॥२८॥

अर्थ : ध्यान के चार भेद होते हैं। आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमें से आदि के दो ध्यान अशुभ हैं, उनसे पाप का बंध होता है। शेष दो ध्यान शुभ हैं, उनके द्वारा कर्मों का नाश होता है॥२८॥

यही बात कहते हैं-

परे मोक्षहेतू॥२९॥

अर्थ : अन्त के धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं। इससे यह मतलब निकला कि आदि के आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं॥२९॥

अब आर्त ध्यान के भेद और उनके लक्षण कहते हैं-

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहारः ॥३०॥

अर्थ : विष, कांटा, शत्रु आदि अप्रिय वस्तुओं का समागम होने पर उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए बार बार चिन्तवन करना अनिष्ट संयोग नामक आर्त ध्यान है॥३०॥

दूसरा भेद कहते हैं-

विपरीतं मनोज्ञस्य॥३१॥

अर्थ : पुत्र, धन, स्त्री आदि प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनसे मिलन होने का बार बार चिन्तन करना इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान है॥३१॥

तीसरा भेद कहते हैं-

वेदनायाश्च॥३२॥

अर्थ : वात आदि के विकार से शरीर में कष्ट होने पर रात दिन उसी की चिन्ता करना वेदना नामक आर्तध्यान है॥३२॥

निदानं च॥३३॥

अर्थ : भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर रात दिन आगामी भोगों को प्राप्त करने की ही चिन्ता करते रहना निदान आर्त ध्यान है। इस तरह आर्तध्यान के चार भेद हैं॥३३॥

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम्॥३४॥

अर्थ : वह आर्तध्यान अविरत यानि पहले, दूसरे, तीसरे और चतुर्थ गुणस्थान वालों के, देशविरत श्रावकों के और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के होता है। परंतु प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियों के निदान नहीं होता। बाकी के तीन आर्तध्यान प्रमाद के उदय से जब कभी हो जाते हैं॥३४॥

अब रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामियों को बताते हैं-

हिंसाऽनृत-स्तेय-विषय संरक्षणेभ्यो रोद्रमविरत-देशविरतयोः॥३५॥

अर्थ : हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संचय करने की चिन्ता करते रहने से रौद्रध्यान होता है। यह रौद्रध्यान पहले, दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थान वालों के तथा देश विरत श्रावकों के होता है। किन्तु संयमी मुनि के नहीं होता, क्योंकि यदि कदाचित मुनि को

भी रौद्रध्यान हो जाए तो फिर वे संयम से भ्रष्ट समझे जाएँगे।

शंका : जो व्रती नहीं है उनके रौद्रध्यान भले ही हो, किन्तु देशव्रती श्रावक के कैसे हो सकता है?

समाधान : श्रावक पर अपने धर्मायतनों की रक्षा का भार है, स्त्री, धन वगैरह की रक्षा करना उसे अभीष्ट है, अत: इनकी रक्षा के लिए जब कभी हिंसा के आवेश में आ जाने से रौद्र ध्यान हो सकता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि होने के कारण उसके ऐसा रौद्र ध्यान नहीं होता जो उसको नरक में ले जाए॥३५॥

अब धर्म ध्यान का स्वरूप बतलाते हैं-

आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्॥३६॥

अर्थ : आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय, ये धर्म ध्यान के चार भेद हैं। अच्छे उपदेष्टा के न होने से अपनी बुद्धि के मंद होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से जब युक्ति और उदाहरण की गति न हो तो ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गहे आगम को प्रमाण मानकर गहन पदार्थ का श्रद्धान कर लेना कि यह ऐसा ही है, आज्ञा विचय है। अथवा स्वयं तत्त्वों का जानकार होते हुए भी दूसरों को उन तत्त्वों को समझाने के लिए युक्ति दृष्टांत आदि का विचार करते रहना, जिससे दूसरों को ठीक ठीक समझाया जा सके, आज्ञा विचय है, क्योंकि उसका उद्देश्य संसार में जिनेंद्र देव की आज्ञा का प्रचार करना हैं। जो लोग मोक्ष के अभिलाषी होते हुए भी कुमार्ग में पड़े हुए हैं उनका विचार करना कि कैसे वे मिथ्यात्व से छूटें, इसे अपाय विचय कहते हैं। कर्म के फल का विचार करना विपाक विचय है। लोक के आकार का तथा उसकी दशा का विचार करना संस्थान विचय है। ये धर्म ध्यान अविरत, देश विरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुण स्थान वाले जीवों के ही होते हैं॥३६॥

अब शुक्ल ध्यान के स्वामी बतलाते हैं-

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः॥३७॥

अर्थ : आदि के दो शुक्ल ध्यान सकल श्रुत के धारक श्रुत केवली के होते हैं। 'च' शब्द से धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। अत: श्रेणि पर चढ़ने से पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्ल ध्यान होते हैं॥३७॥

अब बाकी के दो शुक्ल ध्यान किसके होते हैं, यह बतलाते हैं-

परे केवलिनः॥३८॥

अर्थ : अन्त के दो शुक्ल ध्यान सयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं॥३८॥

अब शुक्ल ध्यान के भेद बतलाते हैं-

पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-
व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ : पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये चार शुक्ल ध्यान के भेद हैं। ये सब नाम सार्थक हैं। इनका लक्षण आगे कहेंगे॥३९॥

अब शुक्ल ध्यान का आलम्बन बतलाते हैं-

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ : पहला शुक्ल ध्यान तीनों योगों में होता है। दूसरा शुक्ल ध्यान तीनों योगों में से एक योग में होता है। तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग में ही होता है॥४०॥

अब आदि के दो शुक्ल ध्यानों का विशेष कथन करते हैं-

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ : आदि के दोनों शुक्ल ध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानी के ही होते हैं, अतः दोनों का आधार एक ही है। तथा दोनों वितर्क और विचार से सहित हैं॥४१॥

इस कथन में थोड़ा अपवाद करते हैं-

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ : किन्तु दूसरा शुक्ल ध्यान वीचार रहित है। अर्थात् पहला शुक्ल ध्यान तो वितर्क और वीचार दोनों से सहित है। किन्तु दूसरा शुक्ल ध्यान वितर्क से सहित है पर वीचार से रहित है॥४२॥

अब वितर्क का लक्षण कहते हैं-

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ : विशेष रूप से तर्क अर्थात विचार करने को वितर्क कहते हैं। वितर्क नाम श्रुतज्ञान का है॥४३॥

अब वीचार का लक्षण कहते हैं-

वीचारोऽर्थ-व्यंजन-योगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ : अर्थ से मतलब उस द्रव्य या पर्याय से है जिसका ध्यान किया जाता है। व्यंजन का अर्थ वचन है और मन वचन काय की क्रिया को योग कहते हैं। तथा संक्रांति का अर्थ परिवर्तन है। ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात ध्यान के विषय का बदलना अर्थ संक्रांति है। श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना, उसे भी छोड़कर

तीसरे वाक्य का सहारा लेना, इस तरह ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यंजन संक्रांति कहते हैं। काययोग को छोड़कर अन्य योग का ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योग संक्रान्ति है। इन तीनों प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। और जिस ध्यान से इस तरह का विचार होता है वह वीचार सहित है और जिसमें यह विचार नहीं होता वह विचार रहित है।

विशेषार्थ : अभ्यस्त साधु ही इस चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को संसार से छूटने के लिए ध्याते हैं। उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है-सबसे प्रथम ध्यान के लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिए जो एकदम एकांत हो, जहाँ न मनुष्य का संचार हो, न सर्प, सिंह आदि पशुओं का उत्पात हो, जो न अति गरम हो और न अति शीतल, हवा और वर्षा की भी बाधा जहाँ न हो। सारांश यह है कि चित्त को चंचल करने का कोई साधन जहाँ न हो, ऐसे स्थान पर किसी साफ सुथरी जमीन में पल्यंकासन लगाकर अपने शरीर को सीधा रक्खें और अपनी गोदी में बाएँ हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रखें। नेत्र न एक दम बंद हों और न एकदम खुले हों। दृष्टि सौम्य और स्थिर हो। दाँत से दाँत मिले हों। मुख थोड़ा उठा हुआ हो, प्रसन्न हो। श्वासोछ्वास मंद मंद चलता हो। ऐसी स्थिति में मन को नाभिदेश में, हृदय में अथवा मस्तक वगैरह में एकाग्र करके मुमुक्षु को शुभ ध्यान करना चाहिए। सो जब साधु सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में जाता है तब द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु का ध्यान करता है। उस समय उसका मन ध्येय में और वाक्य में तथा काययोग और वचन योग में घूमता रहता है। अर्थात अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रांति रूप वीचार चलता रहता है। जैसे कोई बालक हाथ में ठूँठी तलवार लेकर उसे ऐसे उत्साह से चलाता है मानो वृक्ष को काटे डालता है वैसे ही वह ध्याता भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम के शुक्ल ध्यान को करता है। वही ध्याता जड़मूल से मोहनीय कर्म को नष्ट करने की इच्छा से पहले से अनन्त गुण विशुद्ध ध्यान का आलम्बन लेकर, अर्थ व्यंजन और योग की संक्रान्ति को हटाकर मन को निश्चय करके जब बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तो फिर ध्यान लगाकर पीछे नहीं हटता इसलिए उसे एकत्व वितर्क वीचार ध्यान वाला कहते हैं इस एकत्व वितर्क ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी ईंधन को जला देने पर, जैसे मेघ पटल के हट जाने पर मेघों में छिपा हुआ सूर्य प्रकट होता है वैसे ही कर्मों का आवरण हट जाने पर केवल ज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। उस समय वह तीर्थंकर केवल अथवा सामान्य केवली होकर अपनी आयु पर्यन्त देश में विहार करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त बाकी रहती है और वेदनीय नाम तथा गोत्रकर्म की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त ही शेष रहती है तो वह समस्त वचन योग, मनोयोग

और बादर काय योग को छोड़कर सूक्ष्म काय योग का आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान को करते हैं। किन्तु यदि आयु कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष हो और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो तो केवली समुद्घात करते हैं। उसमें आठ समय लगते हैं। पहले समय में आत्म प्रदेशों को फैलाकर दंड के आकार करते हैं, दूसरे समय में कपाट के आकार करते हैं, तीसरे समय में प्रतररूप करते हैं और चौथे समय में अपने आत्म प्रदेशों से लोक को पूर देते हैं। पाँचवें समय में लोक पूरण से प्रतररूप छठे में प्रतर से कपाट रूप और सातवें समय में कपाट से दंड रूप करते हैं। आठवें समय में बाहर निकले हुए आत्म प्रदेश फिर शरीर में प्रविष्ट होकर ज्यों के त्यों हो जाते हैं। इस तरह चार समय में प्रदेशों का विस्तार और चार समय में प्रदेशों का संकोच करने से शेष तीन कर्मों की स्थिति भी आयु के समान अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है। उस समय वे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान करते हैं। इसके बाद समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति नाम का चौथा शुक्ल ध्यान करते हैं। इस ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास का संचार, समस्त मनोयोग, वचनयोग, काययोग और समस्त प्रदेशों का हलन चलन आदि क्रिया रुक जाती है। इसीलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति कहते हैं। इसके होने पर समस्त बंध और आस्रव रुक जाता है और समस्त बचे हुए कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अत: मोक्ष के साक्षात् कारण यथाख्यात चारित्र, दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं। तब वह अयोग केवली समस्त कर्मों को ध्यानरूपी अग्नि से जलाकर किट्टकालिमा से रहित शुद्ध सुवर्ण की तरह निर्मल आत्म रूप होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इस तरह दोनों प्रकार का तप नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने के कारण संवर का भी कारण है और पूर्व बद्ध कर्मों को नष्ट करने का कारण होने से निर्जरा का भी कारण है।।४४।।

आगे बतलाते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियों के समान निर्जरा नही होती-

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-
दर्शनमोहक्षपकोपशम-कोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः
क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः ।।४५।।

अर्थ : सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक, महाव्रती मुनि, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने वाले, दर्शन मोह का क्षय करने वाले, चारित्र मोह का उपशम करने वाले, उपशांत मोह यानी ग्यारहवें गुणस्थान वाले, क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले, क्षीण-मोह यानी बारहवें गुण स्थान वाले और जिन भगवान के परिणामों की विशुद्धता अधिक अधिक होने से प्रति समय क्रम से असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

विशेषार्थ : जब मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यकत्व को प्राप्त करने के लिए तीन करण करता है उस समय उसके आयु कर्म के सिवा शेष सात कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। वह जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो उसके पहले से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वह जब श्रावक हो जाता है तो उसके सम्यग्दृष्टि से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। श्रावक से जब वह सप्तम गुण स्थानवर्ती मुनि हो जाता है तो उसके श्रावक से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह मुनि होकर अनन्तानुबंधी कषाय को शेष कषाय रूप परिणमा कर उसका विसंयोजन करता है तो उसके मुनि से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करता है तो उसके विसंयोजन काल से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह उपशम श्रेणी चढ़ता है तो उसके दर्शन मोह क्षपक से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह समस्त मोहनीय कर्म का उपशम करके उपशांत कषाय गुन स्थान वाला हो जाता है तो उसके उपशम अवस्था से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जीव जब उपशम श्रेणी से गिरने के बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है तो उसके ग्यारहवें गुण स्थान से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त मोहनीय कर्म का क्षय करके क्षीण कषाय हो जाता है तो उसके क्षपक अवस्था से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त घातिया कर्मों को नष्ट करके केवली हो जाता है तो उसके क्षीण कषाय से भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। सारांश यह है कि इन दस स्थानों को प्राप्त होने वाले जीवों के परिणाम उत्तरोत्तर अधिक अधिक विशुद्ध होते हैं अत: इनके कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुनी होती है। इतना ही नहीं, जहाँ उत्तरोत्तर निर्जरा असंख्यात गुनी असंख्यात गुनी होती जाती है वहाँ निर्जरा का काल असंख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग घटता जाता है। जैसे जिन भगवान के निर्जरा का काल सबसे कम है उससे संख्यात गुना काल क्षीण कषाय का है। इस तरह यद्यपि निर्जरा का काल सातिशय मिथ्यादृष्टि तक अधिक अधिक होता है, किन्तु सामान्य से प्रत्येक का निर्जरा काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इस उत्तरोत्तर कम कम काल में कर्मों की निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है।

अब निर्ग्रन्थों के भेद कहते हैं-

पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ।।४६ ।।

अर्थ : पुलाक, वशुक, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँचों निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। जिनके उत्तर गुणों की तो भावना भी न हो और मूल गुणों में भी कभी कभी दोष लगा लेते हों उन साधुओं को पुलाक कहते हैं। पुलाक नाम पुवाल सहित चावल का है।

पुवाल स हित चावल की तरह मलिन होने से ऐसे साधु को पुलाक कहते हैं। जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए सदा तत्पर हो और जिनके मूल गुण निर्दोष हो किन्तु शरीर, पीछी वगैरह उपकरणों से जिन्हें मोह हो उन मुनि को बकुश मुनि कहते हैं। वकुश का अर्थ चितकबरा है। जैसे सफेद पर काले धब्बे होते हैं। वैसे ही उन मुनियों के निर्मल आचार में शरीर आदि का मोह धब्बे की तरह होता है। इसी से वे बकुश कहे जाते हैं। कुशील साधु के दो भेद हैं-प्रतिसेवना, कुशील और कषाय कुशील। जिनके मूल गुण और उत्तर गुण दोनों ही पूर्ण हों किन्तु कभी कभी उत्तर गुणों में दोष लग जाता हो उन साधुओं को प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश में कर लिया है किन्तु संज्वलन कषाय के उदय को वश में नहीं किया है उन साधुओं को कषाय कुशील कहते हैं। जिनके मोहनीय कर्म का तो उदय ही नहीं है और शेष घाति कर्मों का उदय भी ऐसा है जैसे जल में लाठी से खींची हुई लकीर। तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद ही जिन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रकट होने वाला है उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं। जिनके घातिकर्म नष्ट हो गए हैं उन केवलियों को स्नातक कहते हैं। ये पाँचों ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी होते हैं। इसलिए चारित्र की हीनाधिकता होने पर भी इन पाँचों को ही निर्ग्रन्थ कहा है॥४३॥

इन पुलाक आदि मुनियों की और भी विशेषता बतलाते हैं-

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थ : संयम, श्रुत, प्रति सेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से पुलाक आदि मुनियों में भेद जानना चाहिए।

विशेषार्थ : पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। कषाय कुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि अधिक से अधिक पूरे दस पूर्व के ज्ञाता होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वो के ज्ञाता होते हैं। और कम से कम पुलाक मुनि आचारांग के ज्ञाता होते हैं, बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ पाँच समिति और तीन गुप्तियों के ज्ञाता होते हैं। स्नातक तो केवलज्ञानी होते हैं अतः उनके श्रुताभ्यास का प्रश्न ही नहीं है। प्रतिसेवना का मतलब व्रतों में दोष लगाना है। पुलाक मुनि पाँच महाव्रतों में तथा रात्रि भोजन त्यागव्रत में से किसी एक में परवश

होकर कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। बकुश मुनि के दो भेद हैं-उपकरण बकुश और शरीर बकुश। उपकरण बकुश मुनि को सुंदर उपकरणों में आसक्ति रहने से विराधना होती है। और शरीर बकुश मुनि की अपने शरीर में आसक्ति होने से विराधना होती है। प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्तर गुणों में कभी कदाचित दोष लगा लेते हैं। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नहीं होती, क्योंकि त्यागी हुई वस्तु का सेवन करने से प्रतिसेवना होती है। सो ये करते नहीं हैं। तीर्थ यानी सभी तीर्थङ्करों के तीर्थ में पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ पाए जाते हैं। लिंग के दो भेद हैं द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा तो पाँचों ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं। क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी होते हैं। द्रव्य लिंग की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातक के पीछी कमण्डलु उपकरण नहीं होते शेष के होते हैं। अतः द्रव्य लिंग में थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। पुलाक के तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छह लेश्याएँ भी होती हैं क्योकि उपकरणों में आसक्ति होने से कभी अशुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं। कषाय कुशील के कृष्ण और नील के सिवा बाकी की चार लेश्याएँ होती हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती हैं। अयोग केवली के लेश्या नहीं होती। उपपाद पुलाक मुनि अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति के धारक देव होते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागर की स्थिति वाले आरण और अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। कषाय कुशील और ग्यारहवें गुण स्थान वाले निर्ग्रन्थ तेतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होते हैं। इन सबकी उत्पत्ति कम से कम सौधर्म कल्प में होती है। और स्नातक तो मोक्ष जाता है। इसी तरह संयम के स्थानों की अपेक्षा भी इनमें अंतर होता है॥४६॥

॥इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेनवमोऽध्यायः॥९॥

अथ दशमोऽध्यायः

अब अंतिम तत्त्व मोक्ष का कथन किया जाता है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान पूर्वक होती है। अतः पहले केवल ज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं-

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ : मोहनीय कर्म के क्षय से और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय होने से केवल ज्ञान प्रकट होता है। सारांश यह है कि पहले मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीण कषाय नाम के गुणस्थान में जीव रहता है। फिर उसके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को एक साथ नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसी से मोहक्षयात् पद अलग लिखा है॥१॥

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ : बंध के कारणों का अभाव होने से तथा निर्जरा से समस्त कर्मों का अत्यंत अभाव हो जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ : मिथ्यादर्शन आदि कारणों का अभाव हो जाने से नए कर्मों का बंध होना रुक जाता है और तप वगैरह के द्वारा पहले बंध हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अत: आत्मा समस्त कर्म बंधनों से छूट जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। सो कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है। कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका अभाव चरम शरीरी के स्वयं हो जाता है। जैसे नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायु का सत्व चरम शरीरी के नहीं होता अत: इन तीन प्रकृतियों का अभाव तो बिना यत्न के ही रहता है शेष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। सो चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षय करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़कर नौवें गुणस्थान में क्रम से १६+८+१+१+६+१+१+१+१=३६ छत्तीस प्रकृतियों को नष्ट करके दसवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ सूक्ष्म लोभ संज्वलन को नष्ट करके बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है। बारहवें में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की ६ और अन्तराय की ५ प्रकृतियों को नष्ट करके केवली हो जाता है। इस तरह उसके ३+७+३६+१+१६=६३ तिरेसठ प्रकृतियों का अभाव हो जाता है जिनमें ४७ घाति कर्मों की और १६ अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ हैं। शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं जिनमें से ७२ प्रकृतियों का विनाश तो अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में करता है। १३ का विनाश उसी के अंतिम समय में करके मुक्त हो जाता है॥२॥

अब प्रश्न यह है कि पौद्‌गलिक द्रव्य कर्मों के नाश से ही मोक्ष होता है या भाव कर्मों के नाश से भी? इसका उत्तर देते हैं-

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥

अर्थ : जीव के औपशमिक आदि भाव तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव के अभाव से मोक्ष होता है। आशय यह है कि औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव तो पूरे नष्ट हो जाते हैं और पारिणामिक भावों में से अभव्यत्व भाव तो मोक्ष गामी जीव के पहले से ही नहीं होता, जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव मुक्तावस्था में भी रहता है। अत: केवल भव्यत्व का अभाव हो जाता है॥३॥

क्षायिक भाव शेष रहते हैं सो ही कहते हैं-

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ : क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व को छोड़कर अन्य भावों का मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

शंका : यदि मुक्त जीव के ये चार ही क्षायिक भाव शेष रहते हैं तो अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि भावों का भी अभाव कहलाया?

समाधान : नहीं कहलाया, क्योंकि अनन्त वीर्य आदि भाव अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के अविनाभावी हैं। अर्थात अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के साथ ही अनन्त वीर्य होता है। जहाँ अनन्त वीर्य नहीं होता वहाँ अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन भी होते हैं। रहा अनन्त सुख, सो वह अनन्त ज्ञानमय ही है, क्योंकि बिना ज्ञान के सुख का अनुभव नहीं होता।

शंका : मुक्त जीवों का कोई आकार नहीं है, अत: उनका अभाव ही समझना चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु का आकार नहीं वह वस्तु नहीं?

समाधान : जिस शरीर से जीव मुक्त होता है उस शरीर का जैसा आकार होता है वैसा ही मुक्त जीव का आकार रहता है।

शंका : यदि जीव का आकार शरीर के आकार के अनुसार ही होता है तो शरीर का अभाव हो जाने पर जीव को समस्त लोकाकाश में फैल जाना चाहिए, क्योंकि उसका स्वाभाविक परिणाम तो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर बतलाया है?

समाधान : यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार का कारण नामकर्म था। नामकर्म के कारण जैसा शरीर मिलता था उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों में संकोच और विस्तार होता था। मुक्त होने पर नाम कर्म का अभाव हो जाने से संकोच और विस्तार का भी अभाव हो गया॥४॥

शंका : यदि कारण का अभाव होने से मुक्त जीव में संकोच विस्तार नहीं होता तो गमन का भी कोई कारण न होने से, जैसे मुक्त जीव नीचे को नहीं जाता या तिरछा नहीं जाता वैसे ही ऊपर को भी उसे नहीं जाना चाहिए, बल्कि जहाँ मुक्त हुआ है वहीं सदा उसे रहना चाहिए?

इसका समाधान करने के लिए आगे के सूत्र कहते हैं-

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्॥५॥

अर्थ : समस्त कर्मों से छूटने के बाद ही जीव लोक के अन्त तक ऊपर को जाता है॥५॥

अब ऊपर को जाने का कारण बतलाते हैं-

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च॥६॥

अर्थ : पहले के संस्कार से, कर्म के भार से हल्का हो जाने से, कर्म बंधन के कट जाने से और ऊपर को जाने का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊपर को ही जाता है॥६॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं-

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड बीजवदग्निशिखावच्च॥७॥

अर्थ : ऊपर के सूत्र में कहे हुए हेतुओं को और इस सूत्र में कहे गए दृष्टांतों को क्रम से लगाना चाहिए। जो इस प्रकार हैं- जैसे कुम्हार हाथ में डंडा लेकर और उसे चाकपर रखकर घुमाता है तो चाक घूमने लगता है। उसके बाद कुम्हार डंडे को हटा लेता है फिर भी चाक जब तक उसमें पुराना संस्कार रहता है, घूमता है। इसी तरह संसारी जीव मुक्ति की प्राप्ति के लिए बार-बार प्रयत्न करता था कि कब मुक्ति गमन हो। मुक्त हो जाने पर वह भावना और प्रयत्न नहीं रहा। फिर भी पुराने संस्कार वश जीव मुक्ति की और गमन करता है। जैसे मिट्टी के भार से लदी हुई तुम्बी जल में डूबी रहती है। किन्तु मिट्टी का भार दूर होते ही जल के ऊपर आ जाती है। वैसे ही कर्म के भार से लदा हुआ जीव कर्म के वश हो कर संसार में डूबा रहता है। किन्तु ज्यों ही उस भार से मुक्त होता है तो ऊपर को ही जाता है। जैसे एरण्ड के बीज एरण्ड के ढोडा में बंद रहते हैं। और ढोडा सूखकर फटता है तो उछलकर ऊपर को ही जाते हैं। वैसे ही मनुष्य आदि भवों में ले जाने वाले गति नाम जाति नाम आदि समस्त कर्म बंध के कट जाने पर आत्मा ऊपर को ही जाती है। जैसे वायु के न होने पर दीपक की लौ ऊपर को ही जाती है वैसे ही मुक्त जीव भी अनेक गतियों में ले जाने वाले कर्मों के अभाव में ऊपर को ही जाता है, क्योंकि जैसे आग का स्वभाव ऊपर को जाने का है

वैसे ही जीव का स्वभाव भी उर्ध्व गमन ही है।।७।।

अब प्रश्न यह होता है कि जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है तो फिर मुक्त जीव लोक के अंत तक ही क्यों जाता है? आगे क्यों नहीं जाता? इसके उत्तर में कहते हैं।

धर्मास्तिकायाभावात्।।८।।

अर्थ : गतिरूप उपकार करने वाला धर्मास्तिकाय द्रव्य लोक के अन्त तक ही है, आगे नहीं है। अतः मुक्त जीव लोक के अंत तक ही जाकर ठहर जाता है, आगे नहीं जाता।।८।।

अब मुक्त जीवों में परस्पर में भेद व्यवहार का कारण बतलाते हैं-

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।।९।।

अर्थ : क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन बारह अनुयोगों के द्वारा सिद्धों में भेद का विचार करना चाहिए।

विशेषार्थ : प्रत्युत्पन्ननय और भूतप्रज्ञापननय की विवक्षा से बारह अनुयोगों का विवेचन किया जाता है। जो नय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है अथवा यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है उसे प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। जैसे ऋजुसूत्रनय या निश्चय नय। और जो नय अतीत पर्याय को ग्रहण करता है उसे भूत प्रज्ञापन नय कहते हैं। जैसे व्यवहार नय। क्षेत्र में इस बात का विचार किया जाता है कि मुक्त जीव की मुक्ति किस क्षेत्र से हुई। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से सिद्धि क्षेत्र में, अपने आत्म प्रदेशों में अथवा जिस आकाश प्रदेशों में मुक्त होने वाला जीव मुक्ति से पूर्व स्थित था उन आकाश प्रदेशों में मुक्ति होती है। भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा पंद्रह कर्म भूमियों में उत्पन्न हुआ मनुष्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। किन्तु पंद्रह कर्म भूमियों में से किसी भी कर्मभूमि के मनुष्य को यदि कोई हरण कर ले जाए तो समस्त मनुष्य लोक के किसी भी स्थान से उसकी मुक्त हो सकती है। काल की अपेक्षा यह विचार किया जाता है कि किस काल में मुक्ति हुई-सो प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो एक समय में ही मुक्ति होती है। और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा सामान्य से तो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालों में मुक्ति होती है। विशेष से अवसर्पिणी काल के सुखमा दुखमा नामक तीसरे काल के अंत में जन्मे जीव और दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल में जन्मे जीव मोक्ष जाते हैं। गति में यह विचार किया जाता है कि किस गति से मुक्ति हुई? सौ प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो सिद्धि गति में ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा मनुष्य

गति से ही मुक्ति मिलती है। लिंग में विचार किया जाता है कि किस लिंग से मुक्ति हुई? सो प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो वेद रहित अवस्था में ही मुक्ति होती है। भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा तीनों ही भाव वेदों से मुक्ति होती है किन्तु द्रव्य से पुल्लिग ही होना चाहिए। अथवा प्रत्युत्पन्न नय से निर्ग्रन्थ लिंग से ही मुक्ति मिलती है और भूत प्रज्ञापन नय से सग्रंथ लिंग से भी मुक्ति होती है। तीर्थ का विचार करते हैं कोई तो तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनमें भी कोई तीर्थंकर के विद्यमान रहते हुए मोक्ष जाते हैं, कोई तीर्थंकर के अभाव में मोक्ष जाते हैं। किस चारित्र से मुक्ति मिलती है? प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो जिस भाव से मुक्ति होती है उस भाव को न तो चारित्र ही कहा जा सकता है और न अचारित्र ही कहा जा सकता है। और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा अव्यवहित रूप से तो यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और व्यवहित रूप से सामायिक, छेदोपस्थापना सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है। और जिनके परिहार विशुद्धि चारित्र भी होता है उनको पाँचों ही चारित्रों से मोक्ष प्राप्त होता है। जो अपनी शक्ति से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं और जो पर के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें बोधित बुद्ध कहते हैं। सो कोई प्रत्येक बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई बोधित बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। किस ज्ञान से मुक्ति होती है? प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो केवलज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा किन्हीं को मतिज्ञान और श्रुतज्ञानपूर्वक केवल ज्ञान होता है और किन्हीं को मति, श्रुत और अवधिज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है। किन्हीं को मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है तब मोक्ष जाते हैं। आत्म प्रदेशों के फैलाव का नाम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष होती है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। मध्यम अवगाहना के बहुत से भेद हैं। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा से इन अवगाहनाओं में से किसी एक अवगाहना से मुक्ति प्राप्त होती है और प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा इससे कुछ कम अवगाहना से मुक्ति होती है, क्योंकि मुक्त जीव की अवगाहना उसके अंतिम शरीर से कुछ कम होती है। अन्तर मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव लगातार भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और बीच बीच में अंतर देकर भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि जीव लगातार मोक्ष जाए तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक मुक्त होते रहते हैं। इसके बाद अंतर पड़ जाता है। सो यदि कोई भी जीव मुक्त न हो तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह माह का अंतर पड़ता है। संख्या एक समय में कम से कम एक जीव मुक्त होता है और अधिक से अधिक १०८ जीव मुक्त होते हैं। अल्पबहुत्व क्षेत्र आदि की

अपेक्षा से जुदे जुदे मुक्त जीवों की संख्या को लेकर परस्पर में तुलना करना अल्प बहुत्व है। सो बतलाते हैं-

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से सब जीव सिद्धि क्षेत्र से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अल्प बहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जो किसी के द्वारा हरे जाकर मुक्त हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जन्म सिद्ध हैं। तथा ऊर्ध्व लोक से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उनसे असंख्यात गुने जीव अधोलोक से मुक्त हुए हैं और उनसे भी असंख्यात गुने जीव मध्य लोक से मुक्त हुए हैं। तथा समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे कम हैं। उनसे संख्यात गुने जीव द्वीपों से मुक्त हुए हैं। यह तो हुआ सामान्य कथन। विशेष कथन की अपेक्षा लवण समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जीव कालोदधि समुद्र से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुने जम्बूद्वीप से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुने धातकीखंड से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुने पुष्करार्ध से मुक्त हुए हैं। यह क्षेत्र की अपेक्षा अल्पबहुत्व हुआ। काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे अधिक हैं। और बिना उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं, क्योंकि पाँचों महाविदेहों में न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी काल है। फिर भी वहाँ से जीव सदा मुक्त होते हैं। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समय में ही मुक्ति होती हैं। अतः अल्पबहुत्व नहीं है। गति की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नय से तिर्यञ्च गति से आकर मनुष्य हो, मुक्त हो गए जीव सबसे थोड़े हैं। मनुष्य गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। नरक गति से आकर मनुष्य हो मुक्त गए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और देवगति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। वेद की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो वेदरहित जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा नपुंसक लिंग से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। स्त्री वेद से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और पुरुष वेद के उदय से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। तीर्थ की अपेक्षा तीर्थंकर होकर मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। सामान्य केवली होकर मुक्त हुए जीव अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं हैं। भूतग्राही नय की अपेक्षा भी अव्यवहित चारित्र सबके यथाख्यात ही होता है, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। अंतर सहित चारित्र की अपेक्षा पाँचों चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं और चार चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। प्रत्येक बुद्ध थोड़े होते हैं। बोधित बुद्ध उनसे संख्यात गुने हैं। ज्ञान की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सब जीव केवल ज्ञान प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नय की अपेक्षा दो ज्ञान से

मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। चार ज्ञान से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। विशेष कथन की अपेक्षा मति श्रुत और मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुत ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। मति श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और मति श्रुत और अवधि ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। और मध्यम अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। संख्या एक समय में एक से लेकर पचास तक की संख्या में मुक्त हुए जीव उनसे अनन्त गुने हैं। एक समय में उनचास से लेकर पच्चीस तक की संख्या में मुक्त हुए जीव असंख्यात गुने हैं। एक समय में चौबीस से लेकर एक तक की संख्या में मुक्त जीव उनसे संख्यात गुने हैं। इस प्रकार मुक्त हुए जीवों में वर्तमान की अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह भूतपर्याय की अपेक्षा ही है।

॥इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेदशमोऽध्याय:॥१०॥

तत्त्वार्थ सूत्र का पारिभाषिक शब्दकोश

(इस कोश में पहले अंक पृष्ठ क्रमांक, दूसरे अंक पंक्ति क्रमांक, तीसरे अंक अध्याय क्रमांक तथा चौथे अंक सूत्र क्रमांक के सूचक हैं)

	पृष्ठ-पंक्ति-अध्याय-सूत्र
अ	
अकषाय वेदनीय	१४२-१३-८-९
अकाम निर्जरा	११९-१९-६-२०
अकाल मरण	६१-८-२-५३
अक्षिप्र ज्ञान	३१-४-१-१६
अक्षरात्मक श्रुत	२७-३-१-९
अगारी	१२९-१९-७-१९
अगृहीत (मिथ्यात्व)	१३८-८-८-१
अगुरुलघु नाम	१४५-२८-८-११
अंग प्रविष्ट	३३-४-१-२०
अंग बाह्य	३३-६-१-२०
अंगोपांग (नामकर्म)	१४४-१९-८-११
अचक्षुदर्शन	४३-२३-२-५
अचक्षु दर्शनावरण	१४१-२४-८-७
अजीव	२३-१६-११-४
अजीव काय	९०-३-५-१
अज्ञात भाव	११४-२८-६-६
अज्ञान (भाव)	४४-१३-२-६
अज्ञान (परीषह)	१५७-१२-९-९
अज्ञान मिथ्यात्व	१३८-१७-८-१
अणुव्रत	१२३-२३-७-२
अण्डज	५५-५-२-३३
अतिक्रम	१३३-१८-७-२८
अतिचार	१३२-१८-७-२३
अतिथि संविभाग (व्रत)	१३१-१३-७-२१
अतिभारारोपण	१३३-२-७-२५
अथाख्यात	१५९-२९-९-१८
अदर्शन (परीषह)	१५७-१३-९-९
अद्धापल्य	७७-७-३-३८
अद्धा पल्योपम	७७-९-३-३८
अद्धा सागर	७७-१४-३-३८
अधर्म (द्रव्य)	९०-१३-५-१
अधिकरण	२५-२३-१-७
अधिगमज सम्यग्दर्शन	२२-३०-१-३
अधोऽतिक्रम	१३४-२६-७-३०
अध्रुव (ज्ञान)	३१-६-१-१६
अनक्षरात्मक श्रुत	२६-३०-१-९
अनगार	१२९-११-७-१९
अनंग क्रीड़ा	१३४-१०-७-२८
अनुगामी (अवधि)	३४-७-१-२२
अनंतानुबंधी	१४२-११-८-९
अनपवर्त्यायु	६०-१९-२-५३
अनर्थ दंड	१३०-१७-७-२१
अनर्थ दंड विरति	१३०-१८-७-२१
अनवस्थित (अवधि)	३४-११-१-२२
अनशन	१६०-१३-९-१९
अनाकांक्ष क्रिया	११४-१०-६-५
अनादर	१३५-२३-७-३३
अनादेय नाम	१४६-३०-८-११
अनाभोग क्रिया	११४-५-६-५
अनाभोग निक्षेप	११६-४-६-९
अनि:सृत (ज्ञान)	३०-२८-१-१६
अनित्थंरूप (संस्थान)	१०१-२०-५-२४
अनित्यानुप्रेक्षा	१५५-११-९-७
अनिन्द्रिय	२९-२५-१-१४
अनिष्ट संयोग (आर्तध्यान)	१६५-४-९-३०
अनीक	७९-१-४-४
अनुकम्पा	२२-२३-१-२
अनुक्त (ज्ञान)	३१-१-१-१६
अनुगामी	३४-१-१-२२
अनादर	१३६-४-७-३४

अनुत्सेक	१२१-२६-६-२६
अनुप्रेक्षा	१५५-१०-९-७
अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय)	१६३-१८-९-२५
अनुभव	१४८-२५-८-२१
अनुभाग बंध	१४०-१७-८-३
अनुमत	११५-७-६-८
अनुमान	२९-११-१-१३
अनुवीचि भाषण	१२४-१३-७-५
अनृत	१२७-३०-७-१४
अन्तर	२६-१७-१-८
अन्तराय	११६-२१-६-१०
अन्तराय (कर्म)	१४०-२५-८-४
अन्तर्द्वीपज	७६-४-३-३६
अन्नपान निरोध	१३३-३-७-२५
अन्यत्वानुप्रेक्षा	१५५-१८-९-७
अन्यदृष्टिप्रशंसा	१३२-१७-७-२३
अन्यदृष्टिसंस्तव	१३२-१८-७-२३
अपध्यान	१३०-२०-७-२१
अपर्याप्ति नाम	१४६-२६-८-११
अपान	९८-२९-५-१९
अपाय विचय	१६६-१९-९-३६
अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित	१३५-२९-७-३४
अप्रत्यवेक्षित निक्षेप	११६-१-६-९
अप्रत्याख्यान क्रिया	११४-१६-६-५
अप्रत्याख्यानावरण	१४३-१६-८-९
अप्राप्यकारी	३२-१६-१-१९
अब्रह्म	१२८-१४-७-१६
अभव्यत्व	४५-२०-२-७
अभिनिबोध	२९-११-१-१३
अभिषवाहार	१३६-११-७-३५
अभ्यन्तर तप	१६१-२-९-२०
अयशःकीर्ति नाम	१४७-१-८-४
अरति (मोहनीय)	१४३-४-८-९
अरति (परीषह)	१५६-२३-९-९
अरूपी	९१-७-५-४
अर्थ पर्याय	३९-१५-१-३३
अर्थावग्रह	३२-२-१-१८
अर्धनाराच संहनन	१४५-१०-८-११
अलाभ परीषह	१५७-४-९-९
अलोकाकाश	९४-७-५-१२
अल्प (ज्ञान)	३१-३-१-१६
अल्प बहुत्व	२६-२१-१-८
अवगाहना	१७७-२१-१०-९
अवग्रह	३०-१२-१-१५
अवधि ज्ञान	२७-७-१-९
अवधि दर्शन	४३-२४-२-५
अवधि दर्शनावरण	१४१-२५-८-७
अवमौदर्य	१६०-१५-९-१९
अवर्णवाद (मूल सूत्र में)	११८-२-६-१३
अवसर्पिणी	७१-१५-३-२७
अवस्थित (अवधि)	३४-११-१-२२
अवाय	३०-१०-१-१५
अविपाक निर्जरा	१५०-१-८-२३
अविभागी प्रतिच्छेद	१०६-२-५-३३
अविरति	१३८-१९-८-१
अशरणानुप्रेक्षा	१५५-१४-९-७
अशुचित्वानुप्रेक्षा	१५५-१८-९-७
अशुभ नाम	१४६-२१-८-११
अशुभ योग	११२-१५-६-३
अशुभ श्रुति	१३०-२६-७-२१
असद्गुणोद्भावन	१२१-१८-६-२५
असमीक्षाधिकरण	१३५-१५-७-३२
असंयत (भाव)	४४-१४-२-६
असंज्ञी	४७-२७-२-११
असंप्राप्तासृपाटिका संहनन	१४५-६-८-११
असातावेदनीय	१४२-५-८-८
असिद्धत्व	४४-१५-२-६
अस्थिर नाम	१४६-२९-८-११

आ

आकाश (द्रव्य) ९०-१३-५-१
आकिंचन्य धर्म १५४-११-९-६
आक्रन्दन ११७-२-६-११
आक्रोश परीषह १५६-२९-९-९
आचार्य १६३-१-९-२४
आज्ञाविचय १६६-१४-९-३६
आज्ञाव्यापादिकी क्रिया ११९-९-६-५
आतप नाम १४५-३०-८-११
आत्मरक्ष ७८-२६-४-४
आदान निक्षेपण समिति १५४-१-९-५
आदेय नाम १४६-३०-८-११
आधिकरणिकी क्रिया ११३-२८-६-५
आनयन १३५-३-७-३१
आनुपूर्वी नाम १४५-२०-८-११
आभियोग्य ७९-३-४-४
आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग १६३-२८-९-२६
आम्नाय (स्वाध्याय) १६३-१९-९-२५
आयु कर्म १४०-८-८-३
आरम्भ ११५-१३-६-८
आरम्भ क्रिया ११४-१२-६-५
आर्जव १५४-११-९-६
आर्य ७५-२०-३-३६
आलोकित पानभोजन १२४-१०-७-४
आलोचना १६२-४-९-२२
आवश्यकापरिहाणि १२०-२३-६-२४
आसादन ११६-२२-६-१०
आस्तिक्य २२-२४-१-२
आस्रव २३-१६-१-४
आस्रवानुप्रेक्षा १५५-१९-९-७
आहार ५३-२३-२-३०
आहारक शरीर ५९-२९-२-४९

इ

इत्वरिका गमन १३४-९-७-२८
इन्द्र ७८-२०-४-४
इन्द्रिय (व्युत्पत्ति) २९-१८-१-१४
इन्द्रिय संयम १५४-२७-९-६
इष्टवियोग (आर्तध्यान) १६५-९-९-३१

ई

ईर्यापथ आस्रव ११३-८-६-४
ईर्यापथ क्रिया ११३-२६-६-५
ईर्या समिति १५३-२३-९-५
ईहा ३०-१३-१-१५

उ

उक्त (ज्ञान) ३१-५-१-१६
उच्चगोत्र १४७-७-८-१२
उच्छवास नाम १४६-३-८-११
उत्तरकुरु ७६-१२-३-३७
उत्तरगुण निर्वर्तना ११५-२९-६-९
उद्धार पल्य ७७-३-३-३८
उद्धार पल्योपम ७७-५-३-३८
उत्पाद १०३-२१-५-३०
उत्सर्ग समिति १५४-२-९-५
उत्सर्पिणी ७१-१८-३-२७
उद्योत नाम १४६-१-८-११
उपकरण (इन्द्रिय) ४९-१६-२-१७
उपकरण संयोग ११६-६-६-९
उपघात ११६-२३-६-१०
उपघात नाम १४५-२८-८-११
उपचार विनय १६२-२५-९-२३
उपपाद जन्म ५४-७-२-३१
उपभोग ५८-१२-२-४४

उपभोग परिभोगपरिमाण १३१-१०-७-२१
उपभोग परिभोगानर्थक्य १३५-१६-७-३२
उपभोगान्तराय १४५-१५-८-१३
उपयोग ४६-१०-२-८
उपयोग (इन्द्रिय) ४९-२३-२-१८
उपस्थापना प्रायश्चित १६२-१६-९-२२
उपाध्याय १६३-२-९-२४
उभयानुगामी ३४-६-१-२२
उष्णपरीषह १५६-९-९-९

ऊ

ऊर्ध्वातिक्रम १३४-२६-७-३०

ऋ

ऋजुगति ५३-१७-२-२९
ऋजुमति ३३-१६-१-२३
ऋजुसूत्र नय ३९-१३-१-३३

ए

एकत्व वितर्क १६८-२५-९-४४
एकत्वानुप्रेक्षा १५५-१७-९-७
एकविध ३१-३-१-१६
एकान्त मिथ्यात्व १३८-१३-८-१
एवं भूत नय ४०-८-१-३३
एषणा समिति १५३-२९-९-५

ऐ

ऐरावत वर्ष ६६-३-३-१०

औ

औदयिक भाव ४१-१७-२-१
औदारिक शरीर ५५-२०-२-३६
औपशमिक चारित्र ४२-३-२-३
औपशमिक भाव ४१-८-२-१
औपशमिक सम्यक्त्व ४२-३-२-३

क

कन्दर्प (अतिचार) १३५-१३-७-३२
करण लब्धि ४२-१०-२-३
कर्मभूमि ७६-१८-३-३७
कर्मयोग ५२-८-२-२५
कल्प ८५-२२-४-२३
कल्पातीत ८२-२३-४-१७
कषाय ११३-७-६-४
कषायकुशील १७१-१०-९-४६
कांक्षा (अतिचार) १३२-१५-७-२३
कामतीव्राभिनिवेश १३४-१०-७-२८
कायक्लेश (तप) १६०-२४-९-१९
काययोग १११-१३-६-१
कायिकी क्रिया ११३-२८-६-५
कारित ११५-१४-६-८
कार्मण शरीर ५५-२६-२-३६
काल द्रव्य १०९-२-५-३९
कालातिक्रम १३६-२२-७-३६
कालोदधि ७४-१२-३-३३
किल्विषिक ७९-४-४-४
कीर्ति (देवी) ६९-६-३-१९
कीलित संहनन १४५-१२-८-११
कुप्य १३४-१६-७-२९
कुब्जक संस्थान १४५-२-८-११
कुल १६३-४-९-२४
कूटलेख क्रिया १३३-११-७-२६
कृत ११५-१४-६-८
केवलज्ञान २७-११-१-९
केवल दर्शनावरण १४१-२६-८-७
केवलि समुद्घात १६९-३-९-४४
केसरी (हृद) ६८-८-३-१४
कौत्कुच्य १३५-१४-७-३२

क्ष

क्षमा १५४-११-९-६
क्षयोपशम निमित्त ३३-२६-१-२२
क्षयोपशम लब्धि ४२-१४-२-३
क्षायिक उपभोग ४३-९-२-४
क्षायिक चारित्र ४३-१२-२-४
क्षायिक दान ४३-३-२-४
क्षायिक भाव ४१-११-२-१
क्षायिक भोग ४३-८-२-४
क्षायिक लाभ ४३-७-२-४
क्षाक्रिय वीर्य ४३-१०-२-४
क्षायिक सम्यक्त्व ४३-११-२-४
क्षायोपशमिक भाव ४१-१६-२-१
क्षिप्र (ज्ञान) ३०-२९-१-१६
क्षुधापरिषह १५६-१५-९-९
क्षेत्र २६-१५-१-८
क्षेत्रवृद्धि १३४-२८-७-३०
क्षेत्रानुगामी (अवधि ज्ञान) ३४-४-१-२२

ग

गंगा ६९-१४-३-२०
गण १६३-५-९-२४
गति नाम कर्म १४४-८-८-११
गर्भ जन्म ५४-५-२-३१
गुण ११०-१०-५-४१
गुण प्रत्यय ३३-२९-१-२२
गुप्ति १५३-६-९-४
गृहीत मिथ्यात्व १३८-१०-८-१
गोत्र कर्म १४०-१०-८-३
ग्लान १६३-४-९-२४

घ

घनवात ६२-६-३-१
घनोदधि ६२-६-३-१
घातायुष्क ८७-१९-४-२९

च

चक्षुदर्शन ४३-२२-२-५
चक्षुदर्शनावरण १४१-२३-८-७
चर्या परीषह १५६-२२-९-९
चारित्र विनय १६२-२२-९-२३
चिन्ता २९-६-१-१३

छ

छेद (अतिचार) १३३-१-७-२५
छेद (प्रायश्चित) १६२-१५-९-२२
छेदोपस्थापना १५९-१९-९-१८

ज

जम्बूद्वीप ६५-२७-३-९
जरायुज ५५-४-२-३३
जाति नाम कर्म १४४-१२-८-११
जीव २३-१५-१-४
जीविताशंसा १३६-२६-७-३७
जुगुप्सा १४३-७-८-९
ज्योतिष्क ८१-२-४-१२
ज्ञात भाव ११४-२७-६-६
ज्ञान विनय १६२-२१-९-२३
ज्ञानावरण १४०-५-८-३

त

तत्त्व २२-१६-१-२
तत्त्वार्थ २२-१३-१-२
तदाहृतादान १३३-२५-७-२७
तदुभय प्रायश्चित १६२-९-९-२२
तनुवात ६२-६-३-१
तपधर्म १५४-११-९-६
तप (प्रायश्चित) १६२-११-९-२२

तपस्वी १६३-३-९-२४
तम:प्रभा ६२-४-३-१
तर्क २९-५-१-१३
ताप ११७-२-६-११
तिगिंच्छ ६८-९-३-१४
तिर्यगतिक्रम १३४-२७-७-३०
तीव्र भाव ११४-२४-६-६
तीर्थंकर नाम १४७-२-८-११
तृणस्पर्श परीषह १५७-६-९-९
तैजस शरीर ५५-२५-२-३६
त्याग धर्म १५४-११-९-६
त्रस ४८-२७-२-१४
त्रस नाम १४६-१५-८-११
त्रायस्त्रिंश ७८-२३-४-४

द

दंशमशक परीषह १५६-१६-९-९
दर्शन ४६-१९-२-९
दर्शन क्रिया ११४-२-६-५
दर्शनविनय १६२-२१-९-२३
दर्शन विशुद्धि १२०-२५-६-२४
दर्शनावरण १४०-६-८-३
दान १३७-२-७-३८
दानान्तराय १४७-१३-८-१३
दिग्विरति १३०-१०-७-२१
दु:स्वर १४६-१९-८-११
दुर्भग १४६-१८-८-११
दुषमा ७१-१६-३-२७
दुषमा दुषमा ७१-१६-३-२७
दुष्पक्व आहार १३६-१२-७-३५
दुष्प्रमृष्ट निक्षेप ११६-२-६-९
देवकुरु ७६-१२-३-३७
देशना लब्धि ४२-१६-२-३
देशविरति १३०-१५-७-२१
द्रव्य १०३-१६-५-२९
द्रव्य निक्षेप २४-१८-१-५
द्रव्य परिवर्तन ४७-१२-२-१०
द्रव्यमन ९८-२७-५-१९
द्रव्य वचन ९८-१९-५-१९
द्रव्य लिंग ४४-६-२-६
द्रव्य संवर १५२-८-९-१
द्रव्यार्थिक नय ४०-१४-१-३३
द्रव्येन्द्रिय ४९-११-२-१७
द्विचरम ८६-२१-४-२६
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व ४२-७-२-३

ध

धर्म १५२-१४-९-२
धर्म द्रव्य ९०-१२-५-१
धर्म अनुप्रेक्षा १५५-२५-९-७
धर्मोपदेश १६३-१९-९-२५
धातकी खंड ७४-८-३-३३
धारणा ३०-१८-१-१५
ध्यान १६४-४-९-२७
धूम प्रभा ६२-४-३-१
ध्रुव (ज्ञान) ३१-२-१-१६
धृति देवी ६९-६-३-१९
ध्रौव्य १०३-२४-५-३

न

नपुंसक वेद १४३-१०-८-९
नय २५-२-१-६
नरकान्ता ६९-१४-३-२०
नाग्न्य परीषह १५६-१७-९-९
नाम कर्म १४४-६-८-११
नाम निक्षेप २४-२-१-५
नय भेद ३८-१३-१-३३

नाराच संहनन १४५-९-८-११
नारी ६९-१४-३-२०
नित्य १०४-१८-५-३१
निदान (शल्य) १२९-५-७-१८
निदान (अतिचार) १३६-२९-७-३७
निदान (आर्तध्यान) १६५-१६-९-३३
निद्रा १४१-२६-८-७
निद्रा निद्रा १४१-२७-८-७
निरुपभोग ५८-१३-२-४४
निर्ग्रन्थ १७१-१३-९-४६
निर्जरा २-१८-१-४
निर्जरानुप्रेक्षा १५५-२०-९-७
निर्देश २५-२१-१-७
निर्माण नाम १४४-२१-८-११
निर्वर्तना ११५-२६-६-९
निर्वृत्ति (इन्द्रिय) ४९-१२-२-१७
निश्चय काल १००-१२-५-२२
निषध ६७-२१-३-११
निषद्या परीषह १५६-२३-९-९
निसर्गज सम्यग्दर्शन २२-२९-१-३
निसर्ग क्रिया ११४-७-६-५
निसर्ग ११६-७-६-९
निसृत (ज्ञान) ३१-५-१-१६
निन्हव ११६-१९-६-१०
नीच गोत्र १४७-८-८-१२
नीचैर्वृति १२१-२४-६-२६
नील (पर्वत) ६७-२२-३-११
नैगम नय ३८-२१-१-३३
नोकषाय १४३-१-८-९
न्यग्रोध परिमंडल १४४-३०-८-११
न्यासापहार १३३-१३-७-२६

प

पंक प्रभा ६२-२-३-१
पद्म ६८-९-३-१४
परघात नाम १४५-३०-८-११
परमाणु १०२-६-५-२५
परव्यपदेश १३६-२०-७-३६
पर विवाह करण १३४-६-७-२८
परिग्रह १२८-२१-७-१७
परिणाम १००-६-५-२२
परिदेवन ११७-४-६-११
परिभोग १३१-८-७-२१
परिहार १६२-१५-९-२२
परिहार विशुद्धि १५९-२१-९-१८
परिषह जय १५६-८-९-९
परोक्ष २८-६-१-११
पर्याप्ति नाम १४६-२३-८-११
पर्याय १०८-१५-५-३८
पर्यायार्थिक नय ४०-१५-१-३३
पल्य ७६-२५-३-३८
पाप प्रकृति १५१-५-८-२६
पापोदेश १३०-२२-७-२१
पारिग्राहिकी क्रिया ११४-१२-६-५
पारिणामिक भाव ४१-१९-२-१
पारितापकी क्रिया ११३-२९-६-५
पारिषद ७८-२५-४-४
पिपासा परीषह १५६-१२-९-९
पुण्डरीक ६८-९-३-१४
पुण्य प्रकृति १५०-२६-८-२५
पुद्गल १००-२१-५-२३
पुद्गल क्षेप १३५-८-७-३१
पुरुषवेद १४३-९-८-९
पुलाक १७१-१-९-४६
पुष्करार्ध ७४-२६-३-३४
पूर्व ७३-२१-३-३१
पूर्वांग ७३-१९-३-३१

पृच्छना १६३-१७-९-२५
पृथकत्व वितर्क १६८-२१-९-४४
पोत ५५-७-२-३३
प्रकीर्णक ७९-२-४-४
प्रकृति बंध १४०-११-८-३
प्रचला १४१-२८-८-७
प्रचला प्रचला १४१-२९-८-७
प्रज्ञा परीषह १५७-१०-९-९
प्रतिक्रमण १६२-६-९-२२
प्रति रुपक व्यवहार १३३-२८-७-२७
प्राणीसंयम १५४-२७-९-६
प्रति सेवना कुशील १७१-८-९-४६
प्रत्यक्ष २८-१२-१-१२
प्रत्यभिज्ञान २८-२४-१-१३
प्रत्याख्यानावरण १४३-१७-८-९
प्रत्येक शरीर नाम १४६-१०-८-११
प्रत्येक बुद्ध १७७-१५-१०-९
प्रथमोपशम सम्यक्त्व ४२-६-२-३
प्रदेश ९२-२६-५-८
प्रदेश बंध १५०-२४-८-२४
प्रदोष ११६-१८-६-१०
प्रमाण २५-१-१-६
प्रमाद १३८-२०-८-१
प्रमादाचरित १३०-२३-७-२१
प्रयोग क्रिया ११३-२५-६-५
प्रवचन भक्ति १२१-७-६-२४
प्रवचन वत्सलत्व १२१-१२-६-२४
प्रवीचार ७९-१७-४-७
प्रशम २२-२२-१-२
प्राण ९८-३०-५-१९
प्राणातिपातिकी क्रिया ११३-३०-६-५
प्रात्ययिकीक्रिया ११४-३-६-५
प्रादोषिकी क्रिया ११३-२७-६-५
प्रायश्चित १६१-३-९-२०
प्रायोग्य लब्धि ४२-२१-२-३
प्रेष्य प्रयोग १३५-४-७-३१
प्रोषधोपवास १३१-१-७-२१

ब

बकुश १७१-३-९-४६
बन्ध २३-१७-१-४
बन्ध (अतिचार) १३२-३०-७-२५
बन्धन नाम १४४-२५-८-११
बहु (ज्ञान) ३०-२६-१-१६
बहुविध (ज्ञान) ३०-२७-१-१६
बहुश्रुत भक्ति १२१-७-६-२४
बादर नाम १४६-२२-८-११
बाल तप ११९-१९-६-२०
बालुका प्रभा ६२-२-३-१
बाह्य तप १६०-२६-९-१९
बुद्धि (देवी) ६९-६-३-१९
बोधित बुद्ध १७७-१६-१०-९
बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा १५५-२३-९-७
ब्रह्मचर्य १५४-११-९-६

भ

भक्त पान संयोग ११६-७-६-९
भरत ६६-३-३-१०
भव परिवर्तन ४७-१६-२-१०
भाव परिवर्तन ४७-१९-२-१०
भव प्रत्यय ३३-१८-१-२१
भवनवासी ८०-९-४-१०
भवानुगामी ३४-५-१-२२
भव्यत्व ४५-१९-२-७
भाव २६-२०-१-८

भाव निक्षेप २४-१९-१-५
भाव मन ९८-२४-५-१९
भाव वचन ९८-१७-५-१९
भाव वेद ४४-९-२-६
भाव संवर १५२-६-९-१
भावेन्द्रिय ४९-२१-२-१८
भाषा समिति १५३-२३-९-५
भेद १०१-१-५-२४
भोग भूमि ७६-१२-३-३७

म

मतिज्ञान २६-२५-१-९
मन्द भाव ११४-२५-६-६
मनःपर्यय ज्ञान (भेद) २७-१०-१-९
मनुष्य लोक ८१-१७-४-१३
मनोज्ञ १६३-८-९-२४
मनोयोग १११-१९-६-१
मरणाशंसा १३६-३६-७-३७
मलपरिषह १५७-८-९-९
महातमः प्रभा ६२-२-३-१
महापद्म ६८-८-३-१४
महापुण्डरीक ६८-८-३-१४
महाव्रत १२३-२४-७-२
महाहिमवान् ६७-१४-३-११
मात्सर्य ११६-२१-६-१०
मात्सर्य (अतिचार) १३६-२१-७-३०
मानुषोत्तर ७४-२९-३-३४
मायाक्रिया ११४-१३-६-५
मार्ग प्रभावना १२१-११-६-२४
मार्दव धर्म १५४-११-९-६
मित्रानुराग १३६-२७-७-३७
मिथ्यात्व मोहनीय १४२-२४-८-९
मिथ्यादर्शन १३८-६-८-१
मिथ्यात्व क्रिया ११४-१३-६-५
मिथ्यादर्शन क्रिया ११४-१५-६-५
मिथ्योपदेश १३३-९-७-२६
मिश्रभाव ४१-१६-२-१
मूर्छा १२८-२४-७-१७
मूलगुण निर्वर्तना ११५-२८-६-९
म्लेच्छ ७५-१५-३-३६
मैथुन १२८-१३-७-१६
मोक्ष २३-१९-१-४
मौखर्य १३५-१४-७-३२
मोक्ष १७३-११-१०-२

य

यशःकीर्ति नाम १४६-३१-८-११
याचना परीषह १५७-३-९-९
योग १११-३-६-१
योग दुष्प्रणिधान १३५-२०-७-३३
योग वक्रता १२०-१०-६-२२
योनि ५४-१३-२-३२

र

रक्ता ६९-१६-३-२०
रक्तोदा ६९-१६-३-२०
रम्यक वर्ष ६६-३-३-१०
रति मोहनीय १४३-४-८-९
रत्नप्रभा ६२-१-३-१
रस परित्याग १६०-२०-९-१९
रहोभ्याख्यान १३३-१०-७-२६
रुक्मी (पर्वत) ६७-१५-३-११
रूपानुपात १३५-७-७-३१
रूप्यकूला ६९-१५-३-२०

रोग परीषह	१५७-५-९-९
रोहित	६९-१४-३-२०
रोहितास्या	६९-१४-३-२०
रौद्र ध्यान	१६५-२६-९-३५

ल

लक्ष्मी	६९-६-३-१९
लब्धि	४२-८-२-३
लब्धि (इन्द्रिय)	४९-२-२-१८
लब्धि (प्रत्यय)	५९-६-२-४७
लवणोद	६५-७-३-७
लाभान्तराय	१४७-१४-८-१३
लिंग	४४-५-२-६
लेश्या	४४-२४-२-६
लोकपाल	७८-२७-४-५
लोकाकाश	९३-१-५-८
लोकानुप्रेक्षा	१५५-२१-९-७
लौकान्तिक	८५-२८-४-२४

व

वचन योग	१११-१६-६-१
वज्र वृषभ नाराच संहनन	१४५-९-८-११
वज्र नाराच संहनन	१४५-१०-८-११
वध	११७-३-६-११
वध (अतिचार)	१३३-१-७-२५
वध परीषह	१५७-१-९-९
वर्तना	१००-३-५-२२
वर्धमान (अवधि)	३४-८-१-२२
वर्षधर	६७-१५-३-११
वाचना	१६३-१६-९-२५
वामन संस्थान	१४५-२-८-११
विग्रह गति	५२-३-२-२५
विचिकित्सा	१३२-१६-७-२३
वितर्क	१६७-२१-९-४३
विदेह	७३-१३-३-३१
विधान	२५-२३-१-७
विदारण क्रिया	११४-७-६-५
विनय	१६१-४-९-२०
विनय सम्पन्नता	१२०-२५-६-२४
विपरीत मिथ्यात्व	१३८-१४-८-१
विपाक विचय	१६-१९-९-३६
विपुल मति	३४-१८-१-२३
विरुद्ध राज्यातिक्रम	१३३-२५-७-२७
विमान	८२-११-४-१६
विवृत (योनी)	५४-१८-२-३२
विवेक	१६२-१०-९-२२
विशुद्धि लब्धि	४२-१५-२-३
विसंवादन	१२०-११-६-२२
विहायोगति नाम	१४६-४-८-११
वीचार	१६८-३-९-४४
वीतराग सम्यग्दर्शन	२२-२५-१-२
वीर्यान्तराय	१४७-१६-८-१३
वृत्तिपरिसंख्यान	१६०-१७-९-१९
वेदना (आर्तध्यान)	१६५-१२-९-३२
वैक्रियिक शरीर	५५-२१-२-३६
वैनयिक मिथ्यात्व	१३८-१६-८-१
वैमानिक	८२-१२-४-१६
वैयावृत्य	१६१-४-९-२०
व्यंजनावग्रह	३२-३-१-१८
व्यन्तरदेव	८०-२१-४-११
व्यय	१०३-२२-५-३०
व्यवहार पल्य	७६-२९-३-३८
व्यवहार पल्योपम	७६-३१-३-३८
व्यवहार नय	३९-५-१-३३
वैक्रियिक शरीर	५९-२-२-४६

व्याप्ति २९-८-१-१३
व्युत्सर्ग १६१-५-९-२०
व्युत्सर्ग प्रायश्चित १६२-१०-९-२२
व्रत १२३-५-७-१

श

शंका १३२-१४-७-२३
शब्द १०१-१-५-२४
शब्द नय ३९-२०-१-३३
शब्दानुपात १३५-५-७-३१
शय्या परीषह १५६-२४-९-९
शरीर नाम १४४-१५-८-११
शर्करा प्रभा ६२-१-३-१
शल्य १२९-१-७-१८
शिखरी ६७-१५-३-११
शीत परीषह १५६-१७-९-९
शील १३२-२४-७-२४
शुभनाम १४६-२०-८-११
शुभयोग ११२-१२-६-३
शैक्ष १६३-३-९-२४
शौच धर्म १५४-११-९-६
श्री (देवी) ६९-६-३-१९
श्रुत ज्ञान २६-२६-१-९१
श्रेणि ५२-१४-२-२५

स

संक्रान्ति १६७-२६-९-४४
संख्या २६-१५-१-८
संग्रह नय ३९-२-१-३३
संघ १६३-८-९-२४
संघात १०३-२-५-२८
संघात नाम १४-२६-८-११
संज्ञा २८-२४-१-१३
संज्ञी ४७-२६-२-११
संज्वलन १४३-१९-८-९
सम्मूर्छन जन्म ५४-४-२-३१
संयमा संयम ११९-१७-६-२०
संयोग ११६-५-६-९
संरम्भ ११५-१२-६-८
संवर २३-१८-१-४
संवरानुप्रेक्षा १५५-२०-९-७
संवृतयोनि ५४-१७-२-३२
संवेग २२-२२-१-२१
संशय मिथ्यात्व १३८-१५-८-१
संसारानुप्रेक्षा १५५-१५-९-७
संस्तरोपक्रमण १३६-३-७-३४
संस्थान १०१-२०-५-२४
संथान विचय १६६-२०-९-३६
संस्थान नाम १४४-२७-८-११
संहनन १४५-४-८-११
सचित्त (योनि) ५४-१४-२-३२
सचित्त आहार १३६-९-७-३५
सचित्त निक्षेप १३६-१९-७-३६
सचित्त अपिधान १३६-२०-७-३६
सचित्त संबंध १३६-९-७-३५
सचित्त सम्मिश्र १३६-१०-७-३५
सत् २६-१४-१-८
सत्कार पुरस्कार १५७-९-९-९
सत्य धर्म १५४-११-९-६
सद्गणोच्छादन १२१-१८-६-२५
समचतुरस्र संस्थान १४४-२९-८-११
समन्तानुपातन क्रिया ११४-४-६-५
समभिरूढ़ नय ४०-१-१-३३
समादान क्रिया ११३-२६-६-५
समारम्भ ११५-१३-६-८
समिति १५२-१३-९-२
संवेग १२१-२-६-२४

समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति १६९-१४-९-४४
सम्यक चारित्र २१-२४-१-१
सम्यक्त्व क्रिया ११३-२३-६-५
सम्यक्त्व मिथ्यात्व १४२-२७-८-९
सम्यक्त्व मोहनीय १४२-२६-८-९
सम्यग्ज्ञान २१-२३-१-१
सम्यग्दर्शन २१-२२-१-१
सराग सम्यग्दर्शन २२-२१-१-२
सराग संयम ११९-१६-६-२०
सविपाक निर्जरा १४९-२९-८-२३
सल्लेखना १३१-१८-७-२२
सहसा निक्षेप ११६-३-६-९
साम्परायिक आस्रव ११३-८-६-४
साकार मंत्र भेद १३३-१५-७-२६
सातावेदनीय १४२-४-८-८
साधन २५-२२-१-७
साधारण शरीर नाम १४६-११-८-११
साधु १६३-८-९-२४
साधु समाधि १२१-४-६-२४
साध्य २९-१०-१-१३
सामानिक ७८-२२-४-४
सामायिक १३०-२८-७-२१
सामायिक चारित्र १५९-१८-९-१८
सिन्धु ६९-१४-३-२०
सीता ६९-१४-३-२०
सीतोदा ६९-१४-३-२०
सुखानुबन्ध १३६-२८-७-३७
सुभग नाम १४६-१७-८-११
सूवर्ण कूला ६९-१४-३-२०
सुस्वर नाम १४६-१९-८-११
सुषमा-सुषमा ७१-१६-३-२७
सुषमा ७१-१६-३-२७
सुषमा-दुषमा ७१-१६-३-२७
सूक्ष्म नाम १४६-२१-८-११
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति १६९-२-९-४४
सूक्ष्म साम्पराय चारित्र १५९-२७-९-१८
सौक्ष्म्य १००-२९-५-२४
स्कन्ध १०२-९-५-२५
स्तेन प्रयोग १३३-२३-७-२७
स्त्यान गृद्धि १४१-२०-८-७
स्त्री परीषह १५६-२४-९-९
स्त्री वेद १४३-८-८-९
स्थापना २४-५-१-५
स्थावर ४८-१५-२-१३
स्थिति २५-२३-१-७
स्थिति बंध १४०-१५-८-३
स्थिर नाम १४६-२७-८-११
स्थौल्य १००-२९-५-२४
स्नातक १७१-१३-९-४६
स्पर्शन २६-१६-१-८
स्पर्शन इन्द्रिय ५०-१२-२-२०
स्पर्शन क्रिया ११४-२-६-५
स्मृति २८-२३-१-१३
स्मृत्यनुपस्थापन १३५-२४-७-३३
स्मृत्यन्तराधान १३४-२९-७-३०
स्वहस्त क्रिया ११४-६-६-५
स्वाति संस्थान १४५-१-८-११
स्वाध्याय १६१-५-९-२०
स्वामित्व २५-२१-१-७
स्मृत्यनुपस्थापन १३६-५-७-३४

ह

हरिकान्ता ६९-१४-३-२०
हरित् ६९-१४-३-२०
हरिवर्ष ६६-३-३-१०

हास्य	१४३-३-८-९	हीयमान	३४-१०-१-२२
हिमवान्	६७-१५-३-११	ह्री (देवी)	६९-६-३-१९
हिंसा	१२७-३-७-१३	हुंडक संस्थान	१४५-३-८-११
हिंसादान	१३०-२४-७-२१	हैमवत	६६-३-३-१०
हीनाधिक मानोन्मान	१३३-२७-७-२७	हैरण्यवत	६६-३-३-१०

आध्यात्मिक भजन

ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै,
सो फेर न भव में आवै ॥टेक॥
संशय-विभ्रम-मोह विवर्जित स्व-परस्वरूप लखावै।
लख परमातम चेतन को पुनि कर्मकलंक मिटावै ॥१॥
भव-तन-भोग विरक्त होय तन नग्न सुभेष बनावै।
मोह विकार निवार निजातम अनुभव में चित लावै ॥२॥
त्रस-थावर वध त्याग सदा परमाद दशा छिटकावै।
रागादिक वश झूठ न भाखें तृणहु न अदत्त गहावै ॥३॥
बाहिर नारि त्याग अन्तर चिद्ब्रह्म सुलीन रहावै।
परमाकिंचन धर्म सार सो द्विविध प्रसंग बहावै ॥४॥
पंच समिति त्रय गुप्ति पाल व्यवहार-चरन मग धावै।
निश्चय सकल कषाय रहित ह्वै शुद्धातम थिर थावै ॥५॥
कुंकु-पंक दास-रिपु तृण-मणि व्याल-माल सम भावै।
आरत रौद्र कुध्यान विडारे धर्म-शुकल को ध्यावै ॥६॥
जाके सुखसमाज की महिमा कहत इन्द्र अकुलावै।
'दौल' तास पद होय दास सो अविचल ऋद्धि लहावै ॥७॥

Contact for
order
Call and
whatsapp
9993602663
7722983010

9993602663

पीतल डिब्बा सेट

4G .ıl .ıl 3.72KB/s 9:21 VoLTE

Like Share

8

Like Share

10"
11"

MILTON
REDMI NOTE 5 PRO
MI DUAL CAMERA

जैन मन्दिर गली नं. 2 कैलाश नगर
श्रीमती आभा जैन राकेश जैन

WEIGHT g
654.0
STAND BY
STABLE
NET

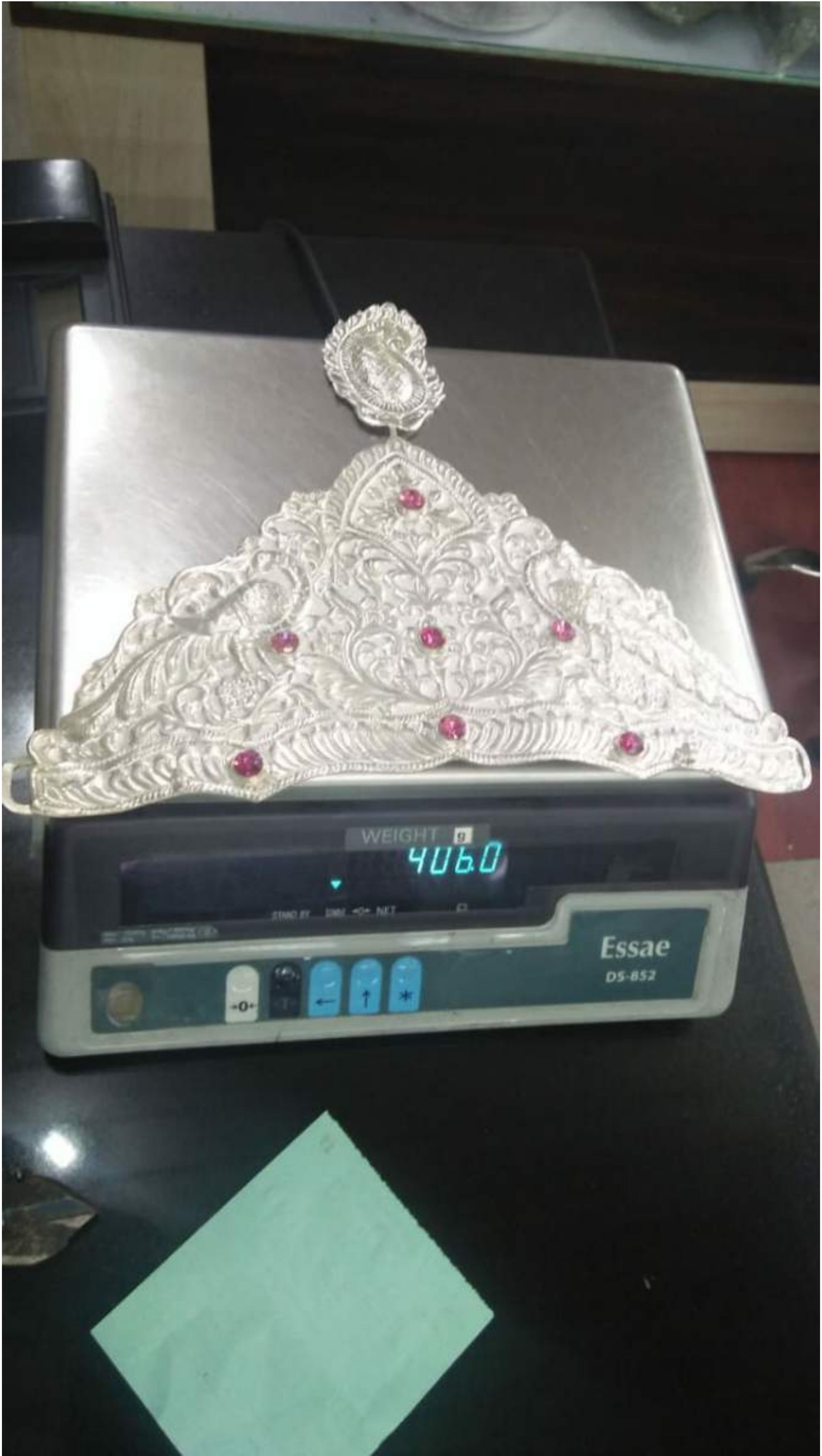

WEIGHT g
4060
Essae
DS-852

WEIGHT
3450
Essae
DS-852

WEIGHT
42040
Essae
DS-852

PhotoGrid

REDMI NOTE 5 PRO
MI DUAL CAMERA

Gopal Lal Dinesh
Jain Mandir
Ankit